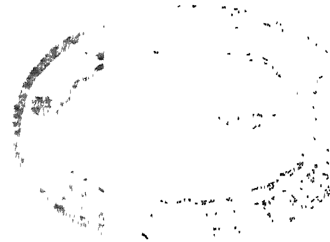
सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा

ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका तथा वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्वकौमुदी

की

हिन्दी-व्याख्या



परिवर्धित नवीन संस्करण

व्याख्याकार

प्रोफेसर डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र

भूतपूर्व कुलपति

इलाहाबाद विश्वविद्यालय



अक्षयवट प्रकाशन

८, बाघम्बरी मार्ग, इलाहाबाद

सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा

SANKHYA TATTVA KAUMUDI PRABHA

द्वारा

प्रोफेसर डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र

भूतपूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

Professor Dr. Adya Prasad Mishra

Former Vice - Chancellor, University of Allahabad.

[टीटागढ़ पेपर मिल्स लिमिटेड के सौजन्य से प्राप्त रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित]

मूल्य : अठारह रुपये (छात्र संस्करण)

पच्चीस रुपये (पुस्तकालय संस्करण

Price : Eighteen Rupees (Student's Edition)

Twenty Five Rupees (Library Edition)

मुद्रक : शाकुन्तल मुद्रणालय,

६४, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद–२

प्रस्तुत संस्करण के सम्बन्ध में

निवेदन

एक वर्ष से ऊपर हो गए 'सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा' को बाजार में अनुपलब्ध हुए। अनेक व्यस्तताओं के कारण और कागज इत्यादि के न मिलने में कठिनाई होने से यह इतने विलम्ब से छप पाई है। छात्रों की कठिनाई को दृष्टि में रखते हुए इसे इस महँगाई में भी छपाने को विवश होना पड़ा, और विवश होना पड़ा आसमान छू रही महँगाई की दृष्टि से इसका मूल्य बढ़ाने को। आशा है, गुण-ग्राही छात्र इससे अनन्यत्र-लभ्य लाभ उठायेंगे।

दीपावली
सं० २०३७ विक्रमी

आद्याप्रसाद मिश्र

भ्रान्तभवाध्वनि कठिनेऽ-

प्यदिशदयतनं विमूढमनुजानाम् !

पौरोहित्यमुपेतं

सांख्याचार्यं कमपि वन्दे !!

ईश्वरकृष्णहृदुत्थै-

र्भावैर्जनयन्तमागमालोकम् !

श्रीवाचस्पतिमिश्रं

तदनु समीडे महामान्यम् !!



विषयानुक्रमणी

—०—

समर्पण

परम पूज्य

पितृ-चरणों

में

सादर-सविनय

समर्पित

कारिकानुक्रमणी

[स]

अवतरणिका

मनुष्य स्वभाव से ही मननशील प्राणी है। अतः मानवीय विचारों की प्रक्रिया उतनी ही पुरानी है, जितनी सृष्टि। स्वभाव के अतिरिक्त मानव की परिस्थितियाँ एवं उसके चारों ओर का वातावरण भी उसको कुछ न कुछ सोचने के लिये सदा प्रेरित करते रहते हैं। सोचने या मनन करने का यह क्रम जाति और व्यक्ति दोनों ही में चलता रहता है। इसी के फलस्वरूप दोनों ही आगे बढ़ते हैं। मानवीय संस्कृति और सभ्यता के विकास का यही रहस्य है। पर सर्वानुभूत बात है कि आरम्भ के विचार अपरिपक्व रहते हैं, नये अनुभवों से मनुष्य के विचारों को नई दिशा प्राप्त होती है, उसका विकास होता है और उसमें क्रमशः परिपक्वता आती जाती है। थोड़ा परिपक्व होने पर ही वे वचनों द्वारा प्रकाशित किए जाने योग्य होते हैं। मन में उठते ही विचार इतने स्फुटित नहीं हो जाते कि वचनों द्वारा प्रकाशित किए जा सकें। फिर कालान्तर में और अधिक परिपक्व होकर व्यवस्थित हो जाने पर लेख-बद्ध होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यतः किसी भी देश, समाज या जाति की ग्रन्थ-सम्पत्ति उसकी शताब्दियों की विचार-साधना का सत्फल होने के कारण आरम्भिक विचारों के बहुत बाद उदित होती है। भारतवर्ष और विशेषतः उसके प्राचीन युग के विषय में यह बात और भी अधिक सत्य है क्योंकि उस समय लिखना मनीषियों, चिन्तकों एवं विद्वानों का व्यापार नहीं था। लिखते वे लोग तभी थे जब सतत साधना के अनन्तर सत्य के किसी अंश के 'ऋषि'—द्रष्टा—बनते थे और लोकहितार्थ उसे लेखबद्ध करने के लिए आन्तरिक प्रेरणा पाते थे। समस्त वेद-राशि—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—का आविर्भाव इसी प्रकार हुआ था। इसी से यह अपौरुषेय कहलाती है क्योंकि गृत्समद, वशिष्ठ, विश्वामित्र इत्यादि उसके कर्ता नहीं, द्रष्टा थे।

उपर्युक्त कथन से जो बात निस्सन्देह ज्ञात होती है, वह यह है कि हिन्दुओं के दार्शनिक चिन्तन और विचार परवर्ती काल में सांख्य, योग न्याय, वेदान्त इत्यादि नामों से व्यवहृत होने वाली विशिष्ट विचार-प्रणालियों के व्यवस्थित रूप धारण करने के अनेक शताब्दियों पूर्व ही आरम्भ हो गए थे और बीच की

शताब्दियों में भी अनवरत रूप से चलते रहे। डा० ई० एच० जानसन ने अपने Early Sankhya नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ठीक लिखा है—"Hindu philosophy was in the making for many centuries befor any of the extant authoritative treatises on the various classical system was composed."

आरम्भिक उपनिषद् साहित्य इन्हीं पूर्व विचारों का लेख बद्ध रूप है, एवं इसी से परवर्ती दर्शन-शास्त्र सूत्र-रूप में व्यवस्थित हुए। इस साहित्य में परवर्ती दर्शन-शास्त्र के मूल-भूत सिद्धान्त बीज-रूप में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। सांख्य-शास्त्र न केवल इस नियम का अपवाद नहीं है, अपितु इसके मूल तत्त्व तो बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में भी सूक्ष्म रूप में मिलते हैं। जैसे, पुरुष केवल साक्षी या द्रष्टा है, कर्ता नहीं—इत्यादि भाव बृहदारण्यक की 'असङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य' इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इसी प्रकार सांख्य का सत्कार्यवाद छान्दोग्य की 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच—कथमसतः सज्जायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसी-देकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि पंक्तियों में, तथा उसके सत्त्व, रजस् और तमस् गुण 'यदग्ने रोहितं रूपं, तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य'[1] इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इनकी तो बात ही क्या, ऋग्वेद इत्यादि में भी सांख्य के पदार्थों की झलक मिलती है। जैसे 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं-(ऋग्वेद १०, १२९, ३) में सांख्य के भावी 'अव्यक्त' का संकेत मिलता है। इन सबसे यह तो अवश्य स्पष्ट होता है कि विकसित तथा व्यवस्थित सांख्य दर्शन की पृष्ठ-भूमि में विद्यमान विचार, जिनसे उनका भावी स्वरूप निर्धारित हुआ, अत्यन्त प्राचीन हैं; परन्तु इससे यह कदापि स्पष्ट नहीं होता कि ये प्राचीनतम उपनिषद् किसी प्रकार के सांख्य-शास्त्र से परिचित हैं।

---

१. भाष्यकार शङ्कराचार्य के अनुसार उद्धृत पंक्ति में तीनों गुणों का नहीं अपितु जगत् की त्रिविध प्रकृति तेजस्, जल तथा पृथ्वी का ही उल्लेख है:—भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनः तेजोऽबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं....।

—ब्रह्मसूत्र १।४।९ पर शां० भा०

इनके बाद के कठ और श्वेताश्वतर में तो सांख्य के बुद्धि, अव्यक्त, तथा पुरुष इत्यादि तत्त्व न केवल स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं, अपितु उनकी आनुक्रमिक सूक्ष्मता भी वर्णित है।[१] श्वेताश्वतर का तो कहना ही क्या ? यह तो सांख्य-उपनिषद् माना ही जाता है। 'सांख्य'[२] और 'कपिल'[३] नाम इसमें पहली ही बार आए हैं। इसी प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ—ये तीनों भी इसी उपनिषद् में मिलते हैं।[४] 'प्रधान' (श्वेता० १।१०) और 'गुण' (श्वेता० १।३) शब्द भी इसमें मिलते हैं। श्वेताश्वतर के प्रसिद्ध मन्त्र 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (४।१०) में अव्यक्त या प्रधान का 'प्रकृति' नाम भी आया हुआ है। इस मन्त्र में, 'महेश्वर' शब्द के आने से मायिक महेश्वर ही जगत् की सृष्टि करता है'—इत्यादि वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन समझाते हुए डा० हरदत्त शर्मा ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के ओ० बु० ए० पूना वाले संस्करण की भूमिका में पृष्ठ आठ पर लिखा है कि 'सांख्य के कुछ पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग-मात्र से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि कोई उपनिषद्-विशेष सांख्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, जैसे "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" में ही यद्यपि सांख्य का एक पारिभाषिक शब्द 'प्रकृति' आया हुआ है, तथापि यह मन्त्र वेदान्त सिद्धान्त का ही समर्थन करता हुआ

---

१. द्रष्टव्य, कठ० अ० १, वल्ली ३, श्लोक १०, ११—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

२. द्रष्टव्य श्वेताश्व० ६।१३: '.........। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' ॥

३. द्रष्टव्य श्वेताश्व० ५।२ :—'.........ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥

४. द्रष्टव्य श्वेताश्व० १।८,९ :—'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।.........' ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थ-युक्ता।.........॥'

प्रतीत होता है'[1]। यह बात समझ में नहीं आती कि इस मन्त्र में सेश्वर सांख्य का सिद्धान्त मानने में क्या कठिनाई है? स्वयं स्वामी शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में स्पष्ट ही कहा है कि सांख्य वेदान्त के बहुत समीप है। इस मत से उनका सबसे बड़ा विरोध केवल इस बात के कारण है कि यह अचेतन प्रकृति को ईश्वर इत्यादि चेतन अधिष्ठाता की बिना अपेक्षा किए ही पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए सृष्टि मे प्रवृत्त होने वाली मानता है। प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर लेने पर दोनों में कम ही भेद रह जाता है। ऐसी स्थिति में तो उपर्युक्त मन्त्र में सेश्वर सांख्य के सिद्धान्त का उल्लेख न केवल अनुचित नहीं जान पड़ता, अपि तु 'तत्कारणं सांख्य-योगाधिगम्यम्' तथा 'ऋषिं प्रसूतं कपिल यस्तमग्रे' इत्यादि मन्त्रों के साथ पढ़े जाने पर सर्वथा उचित और स्वाभाविक जान पड़ता है, क्योंकि प्रथम मन्त्र में सांख्य ज्ञान को स्पष्ट ही उच्चतम कोटि का साधन माना है और यदि सांख्यशास्त्र इस उपनिषद् के पूर्व नहीं था, तो इस प्रकार का उल्लेख अनर्गल और काल्पनिक सिद्ध होता है जो सम्भव नहीं प्रतीत होता। इस सेश्वर सांख्य के इस प्रकार श्रुति-मूलक होने के कारण ही महाभारत में सांख्यानुयायियों को 'यथाश्रुतिनिदर्शिनः,' ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः' इत्यादि कहना संगत होता है। इससे तो यही मानना उचित लगता है कि कठ और श्वेताश्वर, दोनों के पूर्व अर्थात् ई० शताब्दी से बहुत पूर्व सेश्वर सांख्य व्यवस्थित हो चुका था। जैकोबी का यह कथन कि 'अत्यन्त प्राचीन एवं प्राचीन उपनिषदों के बीच सांख्यदर्शन का उदय मानने के विषय में दो मत नहीं हो सकते' सर्वथा ठीक लगता है। केवल इतनी बात और स्मरण रखने की है कि यह मत सेश्वर सांख्य के विषय में ही मान्य है। निरीश्वर सांख्य संभवतः ईश्वरकृष्ण के बहुत पूर्व का नहीं है, इसे आगे स्पष्ट करेंगे। श्रुतियों से आई हुई सेश्वर सांख्य की यही परम्परा महाभारत, मनुस्मृति, तथा भागवत आदि

---

१. डा० शर्मा का यह मत ब्रह्मसूत्र १।४।६ के शां० भा० पर आधारित है—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति—किं कारणं ब्रह्म' (श्वेता० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वेता० १।३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रता काचित्प्रकृतिः प्रधानं नाम अजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्॥

पुराणों में भी मिलती है। "महाभारत में सांख्य-सिद्धान्तों के विभिन्न प्रकार के व्याख्यान प्राप्त होने पर भी ब्रह्म या ईश्वर के विवेचन के विषय में सभी में ऐकमत्य है। यद्यपि पुरुषों की अनेकता मानी गई है, तथापि ब्रह्म सब का आधार माना गया है। (द्रष्टव्य 'बहूनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते-शान्तिपर्व ३५०।२६।'")[1]

कपिल

जैसा अभी पूर्व में कह चुके हैं, सेश्वर सांख्य की परम्परा ईसवी सन् के आरम्भ के कई शताब्दी पूर्व की ज्ञात होती है। परम्परा से इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। परन्तु महाभारत, भागवत इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में इनका विविध एवं परस्पर-विरुद्ध वर्णन प्राप्त होने के कारण अनेक विद्वान् इनके ऐतिहासिक व्यक्ति होने में ही सन्देह करते हैं। महाभारत में ही दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं। एक[2] के अनुसार वे ब्रह्मा के पुत्र ठहरते हैं तथा दूसरे[3] के अनुसार अग्नि के अवतार ठहरते हैं। भागवत[4] के अनुसार वे नारायण के ही पञ्चम अवतार थे। श्वेताश्वतर के पूर्वोद्धृत 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' इत्यादि मन्त्र में आये हुए 'कपिल' पद से भास्कराचार्य इत्यादि ने हिरण्यगर्भ का ग्रहण किया है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादि पहले और बाद के अनेक मन्त्रों में ब्रह्मा को ही सर्व-प्रथम उत्पन्न करके वेदादि-ज्ञान देने की बात कही गई है। यो० सू० १।२५ की टीका[5] में वाचस्पति मिश्र ने भी कपिल को हिरण्यगर्भ कहा है।

---

१. द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी, ओ० बु० ए०, पूना संस्करण की भूमिका, पृ० ११।

२. 'सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। कपिलश्च सुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ॥ सप्तैते ब्रह्मणः पुत्राः—महाभा० शान्ति०।

३. "कपिलं परमर्षिञ्च यं प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्ययोग प्रवर्तकः"—महाभा० शान्ति०।

४. "पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्" ॥ भागवत, १।३।११॥

५. द्रष्टव्य योगसूत्र १।२५ पर तत्त्ववैशारदी—आदिविद्वान् कपिल इति।.... कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते, स ऐवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः।

इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध कथन पाकर प्रो० कीथ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कपिल किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का नहीं अपितु हिरण्यगर्भ का ही नाम है, क्योंकि वे कहीं अग्नि, कहीं विष्णु तथा कहीं शिव के अवतार या रूप कहे गए हैं[१]। मैक्समूलर और कोलब्रूक भी इसी विचार के थे। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने भी 'जयमङ्गला' की भूमिका में कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह प्रकट किया है, यद्यपि उन्होंने आसुरि के प्रति कपिल के सांख्यविषयक उपदेश को ऐतिहासिक माना है। महामहोपाध्याय डा० हरदत्त शर्मा ने भी पूर्वोक्त समस्त विवरण से यही निष्कर्ष निकाला है कि कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सबल प्रमाण नहीं मिलता[२]।

पर इन विद्वानों के इस निष्कर्ष पर श्रद्धा नहीं होती। इसका सबसे बड़ा कारण तो प्राचीन परम्परा है जो महर्षि कपिल को सिद्ध-श्रेष्ठ और सांख्य-दर्शन का प्रथम उपदेष्टा मानती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने को सिद्धों में कपिल मुनि कहा है[३]। स्वामी शङ्कराचार्य ने भी कपिल को सांख्य का उपदेष्टा माना है। हाँ, इन्हें सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक वैदिक कपिल से भिन्न अवश्य बताया है[४]। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने भी लिखा है कि वैदिक कपिल वे थे जिन्होंने महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर दिया था, अवैदिक सांख्य के उपदेष्टा कपिल उनसे भिन्न थे। परन्तु पद्मपुराण में वासुदेव कपिल को ही वैदिक सांख्य का प्रवर्तक कहा है। ध्यान देने की बात है कि पूर्व उद्धरणों में सांख्य के वैदिक या अवैदिक कपिल द्वारा उपदिष्ट होने के विषय में ही मतभेद है, कपिल की सत्ता के विषय में नहीं। इससे स्पष्ट है कि कपिल काल्पनिक नहीं हो सकते।

---

१. द्रष्टव्य प्रो० कीथ का Sankhya System, पृ० ६।

२. द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी के पूना संस्करण की भूमिका, पृ० १०।

३. द्रष्टव्य गीता अ० १०, श्लो० २६।

४. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र २।१।१ पर शांकरभाष्य:—या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं दर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलमतं श्रद्धातुं शक्यं कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्॥

इसीलिए गार्बे ने मैक्समूलर और कोलब्रूक के विचारों का खण्डन करते हुए अपने ग्रन्थ Sankhya Philosophy में लिखा है कि परम्परा से चला आता हुआ कपिल का नाम काल्पनिक नहीं माना जा सकता। महर्षि कपिल के विषय में प्राप्त प्राचीन वर्णन में प्रो० कीथ को जो विरोध प्रतीत होता है, उसके सम्बन्ध में यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि सांख्य के उपदेष्टा कपिल किसी एक कल्प में ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ के पुत्र, किसी दूसरे में अग्नि के अवतार तथा किसी और कल्प में कर्दम और देवहूति के पुत्र (भगवान् विष्णु के पंचम अवतार) भी हो सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। यह परिहार कोई नई सूझ या कल्पना नहीं है। भारतीय परम्परा जानने वाले सज्जन भली भाँति जानते हैं कि रामावतार की आपाततः विरोधी कथायें विभिन्न कल्पों के विभिन्न रामावतारों की होने के कारण वस्तुतः परस्पर विरोधी नहीं मानी जाती। कपिल मुनि के प्रथम सांख्योपदेष्टा होने में पञ्चशिख का वह वचन सबसे प्रबल प्रमाण है जो व्यासदेव ने योगसूत्र १।२५ के भाष्य के अन्त में उद्धृत किया है—'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच"। परन्तु कपिल को काल्पनिक मानने वाले कह सकते हैं कि प्रस्तुत उद्धरण के 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' पदों से यह बात स्पष्ट है कि कपिल मुनि चित्त-विहीन होने से मनुष्य-शरीर में पृथ्वी पर कभी वर्तमान नहीं थे, केवल जिज्ञासु आसुरि को सांख्य-तन्त्र का उपदेश देने के लिए उन्होंने योग-बल से चित्त का निर्माण कर लिया था। योगभाष्य की अपनी 'वार्त्तिक' टीका में विज्ञानभिक्षु ने तो स्पष्ट कहा ही है कि 'सर्ग के आदि में आदि विद्वान् स्वयम्भू के रूप में उत्पन्न विष्णु ने ही योग-बल से स्वनिर्मित चित्त में अंशतः प्रविष्ट होकर कपिल नाम से जिज्ञासु आसुरि को तत्त्व का उपदेश दिया था'[1]। पर इससे यह कहाँ ज्ञात होता है कि वे शरीरधारी नहीं थे। किसी न किसी प्रकार का शरीर बिना हुए निर्माण-चित्त का अधिष्ठान—आधार—क्या रहा होगा और तब उनका उपदेश देना कैसे सम्भव हुआ होगा? इससे तो यही कहना पड़ता है कि कपिल मुनि को काल्पनिक मानना उचित नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य योगसूत्र १।२५ के व्यासभाष्य की 'वार्त्तिक' टीका:—आदि-विद्वान् स्वयम्भूः सर्गादावाविर्भूतो विष्णुर्निर्माणचित्तं योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तमधिष्ठाय स्वांशेन प्रविश्य कपिलाख्यपरमर्षिर्भूत्वा कारुण्याज्जिज्ञासवे आसुरये तत्त्वं प्रोवाचेत्यर्थः।"

महर्षि कपिल की वास्तविकता का संक्षेपतः विचार कर चुकने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि उनके द्वारा आसुरि को सांख्यशास्त्र का जो ज्ञान दिया गया, वह किस नाम से प्रसिद्ध हुआ ? वह ग्रन्थ आज-कल का 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' नामक छः अध्यायों वाला ग्रन्थ ही तो नहीं था ? अथवा वह बाइस सूत्रों का 'तत्त्वसमास' नामक ग्रन्थ था ? अथवा वह ग्रन्थ सांख्य दर्शन का सर्वाधिक प्रसिद्ध किन्तु इस समय लुप्त-प्राप्य ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' ही था। आज इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर देना असम्भव-प्राय है, क्योंकि इस विषय में प्रायः तो प्रामाण नहीं मिलते। जो एकाध मिलते भी हैं, वे परस्पर-विरोधी एवं बहुत बाद के होने से सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं। फिर भी यहाँ उनका विचार अप्रासङ्गिक अथवा अवांछनीय न होगा।

तत्त्वसमास की 'सर्वोपकारिणी' नामक टीका के एक अवतरण से यह ज्ञात होता है कि तत्त्व-समास और सांख्यप्रवचनसूत्र—दोनों सूत्र-ग्रन्थों के कर्त्ता दो कपिल थे। तत्त्व-समास के रचयिता कपिल भगवान् विष्णु के अवतार तथा कर्दम और देवहूति के पुत्र थे, एवं सांख्य-प्रवचन सूत्र के रचयिता कपिल अग्निदेव के अवतार थे। वह अवतरण इस प्रकार है—'अथात्र अनादिक्लेशकर्मवासनासमुद्रपतितानुद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत्; सूचनात्सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति, इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि च एतत्प्रपञ्चभूतान्येव। सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः।' परन्तु विज्ञानभिक्षु के सांख्य-प्रवचन-भाष्य से ज्ञात होता है कि दोनों ही सूत्र-ग्रन्थों के रचयिता भगवान् विष्णु के अवतरण महर्षि कपिल ही थे। उन्होंने भाष्य में लिखा है—"ननु तत्त्वसमासाख्यसूत्रैः सहास्याः षडध्याय्याः पौनरुक्त्यमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररूपेणोभयोरप्यपौनरुक्त्यात्; तत्त्वसमासाख्यं हि यत् संक्षिप्तं सांख्यदर्शनं, तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनमिति, अत एवास्याः षडध्याय्याः सांख्यप्रवचनसंज्ञा सान्वया।" इन दोनों में विरोध स्पष्ट है। इन दोनों ही से भिन्न पद्मपुराण का पूर्व उद्धृत वह मत है जिसमें कहा गया है कि वासुदेव कपिल ने भृगु इत्यादि महर्षियों को वैदिक सांख्य का उपदेश दिया और दूसरे कपिल ने वेद-विरुद्ध सांख्य का प्रचार किया[1]। ऐसी स्थिति मे निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि उपलब्ध सांख्य-सूत्र कपिल की ही कृति हैं, या नहीं।

---

१. ब्रह्मसूत्र २।१।१ के नोट में डा० बेल्वाकर द्वारा उद्धृत।

अनेक विद्वान् कई कारणों से इन्हें कपिल-कृत नहीं मानते। सर्व प्रथम कारण तो यही है कि इनमें कई सूत्र दूसरे ग्रन्थों से लिए गए हैं। ब्रह्मसूत्र ४।१।१ (आवृत्तिरसकृदुपदेशात्) सांख्यप्रवचनसूत्र ४।३ है, योग-सूत्र २।४६ (वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टा:) सांख्यप्रवचनसूत्र २।३३ है। इसी प्रकार पच्चीसवीं सांख्य-कारिका की 'सात्त्विक एकादशकः' इत्यादि प्रथम पंक्ति सांख्यप्रवचन-सूत्र २।१८ 'सात्त्विकमेकादशकम्' इत्यादि है। इसके और कई अंश सूत्रों में उद्धृत हैं। दूसरा मुख्य कारण यह है कि इन सूत्रों मे पञ्चशिख के मत का उल्लेख है। जैसे सां० प्र० सूत्र ५।३२ "आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः" तथा ६।६८ "अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः" है। यदि सांख्य-प्रवचन-सूत्र सचमुच कपिल-कृत ही है तो इनमें शिष्य के शिष्य पञ्चशिख के मत कैसे उद्धृत हुए? तीसरा प्रमुख कारण यह है कि इन सांख्य-सूत्रों को किसी भी प्राचीन ग्रन्थकार ने उद्धृत नहीं किया है। अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शङ्कराचार्य ने कहीं भी सांख्य-सूत्रों को उद्धृत नहीं किया है। सांख्यकारिका की टीका तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख, वार्षगण्य इत्यादि को तो उद्धृत किया है, पर कपिल को नहीं। यदि ये सूत्र महर्षि कपिल द्वारा रचित मौलक सूत्र होते तो प्राचीन आचार्य परम सिद्ध ऋषि के सूत्रों को उद्धृत न करके उनकी अपेक्षा ईश्वरकृष्ण जैसे सामान्य मानव की कृति को क्यों उद्धृत करने जाते? चौदहवीं शताब्दी के माधवाचार्य तक ने भी अपने षड्दर्शन-संग्रह में कारिकाओं को ही उद्धृत किया है, सूत्रों को नहीं। सूत्रों के सबसे पुराने टीकाकार अनिरुद्ध १५०० ई० के आस-पास हुए थे। अतः इनकी रचना १३८० ई० से १४०० ई० के बीच हुई होगी। पर इसके विपरीत पं० उदयवीर शास्त्री ने अनिरुद्ध को १०५० ई० का तथा उपलब्ध सांख्य-सूत्रों को कपिल-रचित सिद्ध किया है। उनका कथन है कि इनमें अनेक सूत्र प्रक्षिप्त हैं, अतः उनके आधार पर समूचे सूत्र-ग्रन्थ की अर्वाचीनता नहीं सिद्ध की जा सकती। इसका विस्तृत विवेचन और खण्डन डा० हरदत्त शर्मा की भूमिका के पृ० २२-२५ पर द्रष्टव्य हैं।

---

१. दसवीं कारिका की प्रथम पंक्ति 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्" सां० प्र० सूत्र १।१२४, एवं २९ वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" सां० प्र० सूत्र २।३१ हैं।

२. द्रष्टव्य ओ० बु० ए० पूना से प्रकाशित सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका पे० २२। यह मत डा० शर्मा ने गार्वे के Sankhya And Yoga नामक ग्रन्थ (पे० ८, ९) से उद्धृत किया है।

आसुरि

कपिल के शिष्य आसुरि की भी ऐतिहासिकता के विषय में मत-भेद है। पं० गोपीनाथ जी कविराज इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं[1]। कीथ[2] इन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने के विरुद्ध हैं। गार्बे[3] भी प्रायेण इसी मत के हैं पर उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि यदि सांख्य से सम्बद्ध आसुरि ऐतिहासिक हैं तो ये अवश्य ही शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से भिन्न हैं। प्रो० कीथ का मत मान्य नहीं हो सकता। हरिभद्र सूरि जैसे प्राचीन आचार्य जिनका समय ७२५ ई० के लगभग है, ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में "विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥" श्लोक को आसुरि के नाम से उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि आसुरि के ऐतिहासिक होने और कोई ग्रन्थ लिखने का सम्प्रदाय ८०० ई० से भी प्राचीन है। हरिभद्र सूरि के समय से भी कई शताब्दी पूर्व के महाभारत[4] में भी आसुरि को पञ्चशिख का गुरु कहा गया है। मुनि कपिल के सम्बन्ध में भागवत के पूर्व उद्धृत श्लोक (भाग० १।३।११) में भी आसुरि को भगवदवतार सिद्धेश कपिल मुनि से कालविप्लुत सांख्य-ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है। माठर-वृत्ति[5] में भी आसुरि को न केवल कपिलाचार्य का शिष्य कहा गया है अपितु गृहस्थ-धर्म तथा पुत्र, स्त्री इत्यादि को छोड़कर शिष्य बनना बताया गया है। इस सारी परम्परा के विपरीत उन्हें अवास्तविक मानना सर्वथा अनुचित ही लगता है। दुःख है कि उनकी कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका की जयमंगला टीका की कविराज जी द्वारा लिखित भूमिका, पे० ३।

२. द्रष्टव्य ग्रन्थ Sankha System, पे० ४७, ४८।

३. द्रष्टव्य ग्रन्थ Sankya And Yoga, पे० २, ३।

४. द्रष्टव्य शान्तिपर्व अ० २१८:—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः। पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥

५. द्रष्टव्य, माठरवृत्ति चौ० सं० सिरिज प्रकाशन, पे० २:—'स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव।'

पञ्चशिख

पञ्चशिख की ऐतिहासिकता का विरोध किसी ने भी नहीं किया है। अभी पीछे आसुरि के पञ्चशिख के गुरु होने के विषय में महाभारत का उल्लेख किया गया है। उसमें पञ्चशिख को 'पञ्चरात्रविशारद' कहा गया है। यह कथन कुछ विचित्र सा लगता है क्योंकि पञ्चशिख तो सांख्य के आचार्य थे। वैसे बाह्य दृष्टि से इसका परिहार यह कह कर भी किया जा सकता है कि पञ्चशिख पञ्चरात्र या भागवत-सम्प्रदाय के भी ज्ञाता हो सकते हैं, इसमें विचित्रता क्या है? परन्तु आन्तरिक या सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि इस कथन से पञ्चशिख के 'पञ्चरात्र-विशारद' कहे जाने के रहस्य का उद्घाटन नहीं होता क्योंकि यों तो सभी आचार्य और विशेषतः पञ्चशिख की कोटि के उच्चतम आचार्य अपने समय के किसी एक नहीं, अपितु प्रायः सभी प्रमुख सम्प्रदायो के ज्ञाता होते ही हैं। अतः उनके पञ्चरात्र का ही विशारद कहे जाने में कुछ विशेष रहस्य अवश्य है। वह रहस्य क्या हो सकता है? योगभाष्य मे व्यास ने तथा सांख्य-तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख का सर्व-प्रसिद्ध वचन "स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः, सप्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्! कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" उद्धृत किया है। इस बचन से पञ्चशिख का हिंसा-विषयक यह मत ज्ञात होता है कि वेदों के द्वारा विहित यज्ञों में अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा भी पाप—अपुण्य—उत्पन्न करती है और उसका दुःखादि फल, चाहे वह यज्ञादि कृत्यों के फल-भूत सुख के समक्ष कितना भी अकिञ्चित्कर या नगण्य क्यों न हो, स्वर्ग में भी भोगना पड़ता है, वेद वाह्य अवहित हिंसा का तो कहना ही क्या! इस प्रकार उसके मत से अहिंसा ही मानव का सर्वाधिक कल्याण करने वाला तत्त्व है और यही सिद्धान्त पाञ्चरात्र या भागवत सम्प्रदाय में विहित आचार की आधारशिला है, यही पाञ्चरात्र मत की समस्त साधना का रहस्य एवं उस साधना की सफलता का मूल मन्त्र है। अतएव वेदों के यज्ञादि कर्म को श्रेयः—साधना, अतश्च करणीय मानते हुये भी उसकी अपेक्षा अहिंसा को ही ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति में सर्वाधिक हितकर और अनिवार्य मानने के कारण ही आचार्य पञ्चशिख को 'पञ्चरात्र-विशारद' पञ्चरात्र के गूढ तत्त्व का ज्ञाता—कहा गया होगा। आगे सांख्य में यही सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ। ईश्वरकृष्ण का वैदिक यज्ञों के विषय में 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' इत्यादि कथन भी आचार्य पञ्चशिख की इसी मान्यता का समर्थक है, और मीमांसकों के

एतद्विषयक मत के विरुद्ध 'तद्विपरीतः श्रेयान्' इत्यादि सांख्य-मत की स्थापना करता है। योग में भी अहिंसा को ही मुख्य सार्वभौम धर्म माना गया, जैसा कि योग के आठ अंगों में प्रमुख पञ्चविध[1] यमों में भी अहिंसा को प्रथम स्थान देने से स्पष्ट है। यहाँ तक कि अहिंसा और सत्य के पारस्परिक विरोध के अवसर पर अहिंसा की ही मुख्यता मानी गयी है, जैसा योगसूत्र २।३० के व्यास-भाष्य[2] से स्पष्ट है। भागवत-धर्म के साथ सांख्य और योग के सम्बन्ध का यही रहस्य है[3]।

पञ्चशिख के अन्य मुख्य सिद्धान्त योगभाष्य, भामती इत्यादि ग्रन्थो में उद्धृत वाक्यों से ज्ञात होते हैं। ये 'पाञ्चशिख सूत्र' कहे जाते हैं। इसमें से कुछ (मुख्य) ये हैं:—(१) एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् [योग० १।४]। (२) तमणुमात्रमात्मानमविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते [योग १।३६]। (३) बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन [योग० २।६]। (४) तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःख-प्रतीकारः [योग० १।१७, ब्रह्मसूत्रभाष्य-भामती २।२।१०] (५) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्य-विशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते [योग० २।२०]।

इसके अतिरिक्त दो प्रमुख उद्धरण पूर्व में दिये जा चुके हैं। ये सूत्र किसी ग्रन्थ के अंग थे या यों ही पृथक् रूप से कथित थे? इस प्रश्न का आज उत्तर मिलना कठिन है; क्योंकि पञ्चशिख का लिखा कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। चीनी परम्परा के अनुसार प्रसिद्ध षष्टितन्त्र के रचयिता पञ्चशिख ही थे। इस मत के विपरीत पं० रामावतार शर्मा आदि के मतानुसार षष्टितंत्र के रचयिता वार्षगण्य थे। योगसूत्र ४।१३ के व्यास-भाष्य में 'तथा च

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ॥ यो० सू० २।३० ॥

२. 'एषा (यथार्थाऽपि वाक्) सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्, तेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्'।

३. द्रष्टव्य पं० बलदेव उपाध्याय का भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ।

शास्त्रानुशासनम् शब्दों के साथ "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्" श्लोक उद्धृत है। 'तथा च शास्त्रानुशासनं' का अर्थ तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने 'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः' किया है। उनके इसी लेख के आधार पर वे इस श्लोक को षष्टितन्त्र का बताते हैं। फिर ब्रह्मसूत्र २।१।३ पर व्याख्यान लिखते हुए भामती में इसी श्लोक को 'अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताऽऽह स्म भगवान् वार्षगण्यः'—इन शब्दों के साथ उद्धृत किया है। इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वाचस्पति मिश्र के मत से षष्टितन्त्र वार्षगण्य का ही लिखा हुआ था। परन्तु वार्षगण्य के नाम से भामती में उद्धृत श्लोक के 'मायेव' के स्थान में मायैव' पाठ है। साथ ही दोनों स्थलों में उद्धृत श्लोकों के वाचस्पति-कृत अर्थों में भी भेद है। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है कि वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त लेखों का यह तात्पर्य रहा हो कि 'मायेव' पाठ वाला श्लोक तो मूलतः 'षष्टितन्त्र' का है परन्तु वार्षगण्य ने थोड़े पाठ-भेद के साथ उसे अपने ग्रन्थ में अपना लिया। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि वाचस्पति मिश्र के अनुसार षष्टितन्त्र के रचयिता वार्षगण्य थे। यह तो तभी सम्भव था जब वे योगभाष्य-टीका में षष्टितन्त्र शास्त्र के साथ में वार्षगण्य का नाम देते। पं० गोपीनाथ कविराज का मत है कि वाचस्पति मिश्र को षष्टितन्त्र का साक्षात् परिचय नहीं प्राप्त था[१]। परन्तु पं० रामावतार शर्मा का मत है कि उन्हें इस ग्रन्थ का साक्षात् ज्ञान था[२]। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि शर्मा जी तो षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का प्रामाण्य स्वीकार करने के पक्ष में हैं परन्तु कविराज जी नहीं। जयमङ्गला की भूमिका में कविराज जी ने अपना यह विचार स्पष्ट भी किया है। जयमङ्गला में आये हुए षटितन्त्र-विषयक उल्लेखों के आधार पर प्रो० हिरियन्ना भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह ग्रन्थ पंचशिख का है, वार्षगण्य का नहीं। एक तीसरा मत इस सम्बन्ध में और है। ब्रह्मसूत्र २।१।१ पर भाष्य लिखते हुए भास्कराचार्य ने "कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेः" इत्यादि लिखा है जिससे स्पष्ट है कि उनके मत से षष्टितन्त्र के रचयिता कपिल

---

१. द्रष्टव्य जयमङ्गला की भूमिका, पृ० ४, ७।

२. द्रष्टव्य सांख्यतत्त्वकौमुदी की बलराम-कृत विद्वत्तोषिणी, पे० २२६।

मुनि थे। उदयवीर शास्त्री[1] और कालीपद भट्टाचार्य[2] भी इस मत के हैं।

षष्टितन्त्र का एक और उद्धरण सांख्यकारिका १७ के गोडपाद-भाष्य तथा माठर वृत्ति मे मिलता है। परमार्थ के चीनी अनुवाद में भी यह मिलता है। यह उद्धरण[3] गद्य में है। इन दोनो के अतिरिक्त एक ही उद्धरण और बचता है जो ५० वीं कारिका के गोडपाद-भाष्य तथा माठर वृत्ति में आया है और जिसके विषय मे सामान्य धारणा है कि यह षष्टितन्त्र का होगा, यद्यपि भाष्य और वृत्ति दोनों में से किसी मे भी यह बात स्पष्ट नहीं कही गयी है, केवल 'शास्त्रान्तरे' और 'ग्रन्थान्तरे' शब्दो के द्वारा ही यह उद्धरण[4] प्रस्तुत किया गया है। यह भी गद्य में है। इस प्रकार अभी तक न तो यही सर्वथा निश्चित हो पाया है कि षष्टितन्त्र का कर्ता कौन था और न यही कि यह ग्रन्थ गद्य में था या पद्य में! इस द्विविध अनिश्चयात्मकता का उल्लेख डा० बेल्वाकर[5] ने किया है।

---

१. द्रष्टव्य, Proceedings Of The Oriental Confererence Lahore II, पे० ८८२।

२. द्रष्टव्य, 'Some Problems Of Sankhya Philosophy and Sankhya Literature, I. H. Q. Sept 1902, पे० ५१६, २०।

३. द्रष्टव्य का० गौडपाद-भाष्य:—'तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते'।

४. द्रष्टव्य, का ५० का गोडपाद-भाष्य:—एवमाध्यात्मिकबाह्यभेदान्नव तुष्टयः तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—'अम्भः सलिलं, मेघो वृष्टिः सुतमः पारं सुनेत्रं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम्'' इति।'

५. द्रष्टव्य, भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पे० १२७ पर डा० बेल्वाल्कर का Matharvritti and the date of Ishwarrkrishna नामक लेख।

जैगीषव्य

महर्षि जैगीषव्य परम योगी एवं प्रसिद्ध सांख्योपदेशक के रूप में महाभारत में एक से अधिक स्थल में उल्लिखित हैं। उसमें ऐसा उल्लेख है कि जैगीषव्य ने आसित देवल के सम्मुख अपना योग-सिद्धि का प्रदर्शन किया था और रुद्र तथा उमा को भी छकाया था[1]। देवल ने सांख्य-ज्ञान जैगीषव्य से ही प्राप्त किया था यह बात महाभारत के शान्ति पर्व से स्पष्ट होती है। प्रो० कीथ ने लिखा है कि कूर्म पुराण के वर्णन के अनुसार जैगीषव्य पञ्चशिख के सहाध्यायी थे[2]। पञ्चशिख के अति दीर्घजीवी होने के कारण उनके अन्तिम दिनों में जैगीषव्य का साथ होना बहुत असम्भव नहीं है। बुद्धचरित १२.६७ में जैगीषव्य, जनक और वृद्ध पराशर का प्राचीन सांख्य योगाचार्यों के रूप में उल्लेख हुआ है। जैगीषव्य का नाम महाभारत १२.३१७८ में दी गई सांख्याचार्यों की नामावली में भी आया है। इतना ही नहीं, महाभारत १२।२४।३१ में जैगीषव्य का मत भी संक्षेप में उल्लिखित है। डा० जानसन का कथन[3] है कि बुद्ध-चरित १।४६-४७ से शील की आवश्यकता पर जोर देने के साथ योग का जो वर्णन आरम्भ हुआ है, वह महाभारत १२।८४।३१ में दिये गए जैगीषव्य के मत का संक्षेप कहा जा सकता है। योगसूत्र २।५५ के व्यास-भाष्य में चार प्रकार के इन्द्रिय-जय बताये गये हैं। इनमें चौथा जैगीषव्य के नाम से उद्धृत है[4]। भाष्यकार ने पहले तीनों की अपेक्षा इसी चौथे को 'परम' कहा है और उनके मत से इन्द्रियों की सूत्रकार द्वारा कथित 'परमवश्यता' का अभिप्राय यही चौथे प्रकार का इन्द्रिय-जय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत और व्यास-भाष्य में जैगीषव्य योग के विषय में परम प्रमाण माने गए हैं। प्रथम शताब्दी के बुद्ध-चरित में तो प्राचीन योगाचार्यों में इनका उल्लेख है ही। इससे स्पष्ट है कि ये भी वार्षगण्य की भाँति प्रथम शताब्दी ईसवी के बहुत पूर्व हुए होंगे। वस्तुतः ये महाभारत-काल से ही पर्याप्त प्राचीन आचार्य थे।

---

१. महाभारत शान्ति-पर्व।

२. द्रष्टव्य, Sankhya System, पृ० ५१।

३. द्रष्टव्य डॉ० जानसन का Early Shankhya पृ० ६।

४. द्रष्टव्य योगभाष्य २।५५ :—चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः, ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानि इन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रिय-जयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति।

वार्षगण्य

षष्टितन्त्र पर विचार करते समय पहले कहा जा चुका है कि कुछ विद्वानों के अनुसार वाचस्पति मिश्र के मत से षष्टितन्त्र के रचयिता यही थे। परन्तु यह कई कारणो से अनिश्चित है, जैसा पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। पूर्वोक्त उद्धरण के अतिरिक्त इनका एक और उद्धरण भी योग-भाष्य (३।५३) में आया है, जो इस प्रकार है— मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्"। ४७वीं सांख्यकारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने इनका एक और उद्धरण दिया है। तत्त्वकौमुदी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—'यदविद्यया विपर्ययेणावधार्यते वस्तु, अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते। अतएव "पंचपर्वाऽविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।' १७वीं सांख्य-कारिका के गौडपाद-भाष्य में षष्टितन्त्र के उद्धरण के रूप से दिए गए ,'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते" को प्रो० कीथ ने वार्षगण्य का कथन कहा है[1]। पर उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि उनके इस कथन का आधार क्या है? प्रो० कीथ के इस कथन से तो पूर्वोल्लिखित प्रथम मत ही पुष्ट होता है कि षष्टितन्त्र के रचयिता वार्षगण्य ही थे। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष के बुद्धचरित १२।३३ में वार्षगण्य का उपर्युक्त कथन "पंचपर्वाऽविद्या" उद्धृत है। इससे स्पष्ट है कि वार्षगण्य ईसवी प्रथम शताब्दी के अन्त में होने वाले अश्वघोष से बहुत पूर्व के होंगे[2], क्योंकि अपने ग्रन्थ मे सांख्य-योग के उन्हीं आचार्यों और उनके विशिष्ट मतों का उल्लेख अश्वघोष ने किया होगा जो उनके समय में सांख्य-योग के प्रामाणिक आचार्य

---

१. द्रष्टव्य प्रो० कीथ का Sankhya System, पे० ७३।

२. द्रष्टव्य, डा० जानसन का Early Sankhya, पे० ६१ :—"It appears that Buddha. XII. gives us in outline the teaching of the chief school of Sankhya and Yoga, those of Varshrganya and Pancashikha in the form in which they were prevalent in the first century. A. D., so that the origin of these schools must be placed at a more remote date than is often done by scholars.

गिने जाते रहे होंगे। आगे १२।१६७ में जैगीषव्य, जनक एवं पंचशिख[1] का उल्लेख होने से इस अनुमान की पुष्टि होती है।

परमार्थ के चीनी अनुवाद के अय्यास्वामी शास्त्री कृत संस्कृत रूपान्तर में सांख्य की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी गई है :—"इदं ज्ञानं कपिलादासुरेरागतम्। आसुरिणा पंचशिखस्योपदिष्टम्। पंचशिखेन गार्ग्येणोपदिष्टम्। गार्ग्येणोलूकस्योपदिष्टम्। उलूकेन वार्षगणस्य। वार्षगणेन ईश्वरकृष्णस्य। एवं क्रमेण ईश्वरकृष्ण इदं ज्ञानमलभत[2]" इसके अनुसार वार्षगण ईश्वरकृष्ण के गुरु थे। अय्यास्वामी शास्त्री के मतानुसार वार्षगण और महाभारत के वार्षगण्य, दोनों एक ही हैं। चीनी अनुवाद के जिस शब्द से शास्त्री जी ने 'वार्षगण' का ग्रहण किया है, वह है 'पो-पो ली'। ऐसा करने में शास्त्री जी ने डा० तकाकुसु का अनुसरण किया है। जिस विधि से डा० तकाकुसु ने 'पोपोली' से वार्ष या वार्षगण का ग्रहण किया है वह शास्त्री जी के शब्दों में इस प्रकार है :—

वार्षगण=वार्षगण्य of the Epic The term 'वार्ष' is transliterated in to Chinese as 'po-po-li.' Takakusu says that 'po-li.so.' may be read for 'po po li.' He futher explains thus: All those who are familiar with the Chinese Buddhist works, know that 'po' is often written for 'So', or vice versa. Suppose we have here this misplace, and also 'so-li' has been taken for 'li-so' by such interversion that presents itself frequently. In that case, we obtain 'po-li-so' which may be restored in to वार्ष or वर्ष" ३ [Vide his introductions, pp. 59-60]

१. द्रष्टव्य, महाभारत, शान्तिपर्व—पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥ १२।३२०।२४ (चित्रशाला संस्करण, १९३२) [धर्मध्वज जनक to योगिनी सुलभा] who is said to be in सत्ययुगः—

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता। महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी॥ [१२।३२०।१६] [कृतयुगे-सत्ययुगे नीलकण्ठी]

२. द्रष्टव्य, चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर, पृ० ९८।

३. द्रष्टव्य वही, पृ० ९८, पाद-टिप्पणी सं० २।

डा० तकाकुसु ने 'पो-पो-लो' से वार्षगण्य का ग्रहण करने में जो क्लिष्ट कल्पना की है, उसका आधार उन्हें परमार्थ-कृत 'वसुबन्धुचरित' में मिला। इसमें लिखा है कि विन्ध्यवास नामक सांख्य दार्शनिक के गुरु वार्षगण्य थे। परमार्थ ने अपना ग्रन्थ कुमारजीव के 'वसुबन्धु-चरित' के आधार पर रचा था। कुमारजीव ने वार्षगण्य एवं विन्ध्यवास के साम्प्रदायिक सम्बन्ध का उल्लेख किया होगा। उसकी वास्तविकता को न समझते हुए परमार्थ ने उनको साक्षात् अध्यापक और शिष्य समझ लिया। अन्यत्र विन्ध्यवास को हिरण्यसप्तति' नामक ग्रन्थ का रचयिता कहा है। चीनी परम्परा के अनुसार 'हिरण्यसप्तति' सांख्यसप्तति या सांख्य-कारिका का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार विन्ध्यवास एवं ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति हुये। एवं वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण के गुरु हुए। परन्तु यह कल्पना अन्य तथ्यों के अतिरिक्त इस निश्चित तथ्य के कारण भी ध्वस्त हो जाती है कि विन्ध्यवास एवं सांख्यदर्शन के अन्तर्गत उनकी विशिष्ट विचार-धारा अथवा विशिष्ट सम्प्रदाय के गुरु या प्रवर्तक आचार्य वार्षगण्य, दोनों का ही ईश्वरकृष्ण से अनेक सिद्धान्तों के विषय में महान् मत-भेद है, जैसा कि अगले प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। वास्तव में पो-पो-लो कपिल का वाचक प्रतीत होता है, जैसा कि पं० उदयवीर शास्त्री का सुझाव है। महर्षि कपिल ईश्वरकृष्ण के गुरु उसी अर्थ में हैं जिसमें अभी वार्षगण्य विन्ध्यवास के कहे गये हैं। ईश्वरकृष्ण कपिल द्वारा प्रवर्तित एवं पञ्चशिख आदि द्वारा संवर्धित मुख्य सांख्यीय विचार-धारा के अनुयायी थे, वह तथ्य आगे स्पष्ट किया जायगा।

वार्षगण्य के नाम से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं :—

(१) मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः। [योगभाष्य ३।५३]

(२) गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ [योगभाष्य ४।१३]

थोड़े पाठ-भेद (मायैव) के साथ यही श्लोक ब्रह्मसूत्रभाष्य २।१।३ की 'भामती' में भी उद्धृत है।

(३) सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्। [न्यायवार्तिक १।१।५]

(४) 'पंचपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः। [सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ४७]

(५) [illegible] वार्षगणाः [युक्तिदीपिका, पृ० ३१]

(६) तथा च वार्षगणाः[1] पठन्ति तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्त्वात् । अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् । [illegible] सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः । तस्माद् [illegible] विनाशः । स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानां, [illegible] ।' इति । [युक्तिदीपिका पृ० ६७]

(७) तथा च भगवान् वार्षगण्यः [illegible] विरुध्यन्ते, [illegible] स्वातिशयैः सह वर्तन्ते' [युक्ति०, पृ० ७२] यही उद्धारण थोड़े पाठ-भेद के साथ योगभाष्य २।१५ एवं ३।१३ में भी पठित है जिसे वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु, दोनों ने ही पंचशिख का वचन कहा है। सम्भवतः वार्षगण्य ने पंचशिख के वचन को थोड़े पाठ-भेद के साथ अपना लिया इसी प्रकार संख्या ४ का 'पञ्चपर्वा अविद्या' उद्धरण भी मूलतः तत्त्वसमाससूत्र १२ है। अतः यह भी वार्षगण्य द्वारा अपनाया गया प्रतीत होता है।

(८) तथा च वार्षगणा पठन्ति—[illegible] हि प्रत्ययत्वेनानुवर्तमानामनुयाति पुरुषः' इति । [युक्ति, पृ० ९५]

(९) तथा च वार्षगणाः पठन्ति—'प्रधान प्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तते इति । [युक्ति, पृ० १०२]

(१०) [illegible] प्रधानात् महानुत्पद्यते । [युक्ति० पृ० १०८]

(११) एकरूपाणि [illegible] एकान्तराणीति वार्षगण्यः । [युक्ति०, पृ० १०८]

(१२) करणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वतः इति वार्षगण्यः । [युक्ति०, पृ० १०८]

(१३) करणम्[illegible] इति वार्षगणाः । [युक्ति०, पृ० १३३]

---

१. ध्यान देने की बात है कि 'वार्षगण' सर्वत्र बहुवचन में पठित है। और वार्षगण्य एक वचन में। इससे ऐसा लगता है कि 'वृषगण' शब्द से यञ् प्रत्यय जुड़ने पर बना हुआ 'वार्षगण्य' शब्द वृषगण के पुत्र या वंशज किसी प्रसिद्ध आचार्य का वाचक है, एवं दोनों में ही 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में अण् प्रत्यय जुड़ने पर बना हुआ 'वार्षगण्य' शब्द उनके अनुयायियों का वाचक है। इस प्रकार 'वार्षगणाः' के नाम पर उद्धृत मत भी 'वार्षगण्य' के ही समझे जाने चाहिये।

(१४) यदि यथा वार्षगणा आहुः—लिङ्गमात्रो महानसंवेद्यः कार्यका-रणरूपेणाभिनिर्वृत्तो विशिष्टलक्षणेन तथा स्यात् तत्कार्यान्तरम्। [युक्ति०, पृ० १३३]

(१५) साधारणो हि महान् प्रकृतित्वात् इति वार्षगणानां पक्षः। [युक्ति०, पृ० १४०]

(१६) वार्षगणानां तु 'यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरप्रवृ-त्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः। [युक्ति, पृ० १५०]

इनमें से अनेक उद्धरण वार्षगण्य की विचार-धारा को कपिल की प्रसिद्ध विचार-धारा से अनेक बातों में पृथक् या भिन्न सिद्ध करते हैं। अगले प्रकरण में विन्ध्यवास के विशिष्ट मत के साथ इसका विचार किया जायगा।

विन्ध्यवास

मेधातिथि ने अपने मनुस्मृति-भाष्य (११५५) में विन्ध्यवास के मत का इस प्रकार उल्लेख किया है—"सांख्या हि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवा-सप्रभृतयः"। श्लोकवर्तिक में भी "अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना"—ऐसा उल्लेख मिलता है। त्रिकाण्डशेष और हैम कोश में आये हुये उद्धरणों के आधार पर तनुसुखराम ने माठर-वृत्ति[1] की अपनी भूमिका में विन्ध्यवास को व्याडि से अभिन्न एवं नन्द का समकालीन कहा है। यदि यह ठीक हो तो इनका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी होगा। परन्तु अश्वघोष ने अन्य सांख्याचार्यों के साथ इनका उल्लेख नहीं किया है, अतः इनका ईसवी सन् के पूर्व का होना बहुत संदिग्ध जान पड़ता है।

चीनी परम्परा के अनुसार विन्ध्यवास ने हिरण्यसप्तति सांख्य-कारिका की टीका है। परन्तु कविराज जी ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि "जैन-ग्रन्थ 'अनुयोग-द्वारसूत्र' में ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों की एक सूची मिलती है जिसमें एक ग्रन्थ कनगसत्तरि (कनकसप्तति) भी है जो मेरे विचार से सुवर्ण-सप्तति या हिरण्य-सप्तति ही है और चीन में यह सांख्य-सप्तति का ही प्रचलित

---

१. द्रष्टव्य, चौखम्बा सं० सिरीज में प्रकाशित माठरवृत्ति की भूमिका, पृ० ३।

२. द्रष्टव्य, भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम में प्रकाशित डा० बेल्वल्कर का पूर्वोद्धृत लेख, पृ० १७५।

नाम है''[1]। अब यदि चीनी परम्परा और कविराज जी का निष्कर्ष, दोनों ही ठीक हों तो अनिवार्य रूप से यही निष्कर्ष निकलेगा कि विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति हैं, जैसा डा० तकाकुसु भी मानते हैं। परन्तु कविराज जी डा० तकाकुसु के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि सम्भवतः विन्ध्यवास ने सांख्य-सिद्धान्त का संशोधन किया और वसुबन्धु ने विन्ध्यवास के इस संशोधित ग्रन्थ के खण्डन में अपना 'परमार्थसप्तति' ग्रन्थ लिखा था। परन्तु ईश्वरकृष्ण की विन्ध्यवास के साथ अभिन्नता प्रतिपादित करने के लिए कोई समुचित आधार नहीं प्रतीत होता। यदि यह सत्य है कि माठरवृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत रूप है और यदि माठर महाराज कनिष्क के शासन-काल में अथवा उसके आस-पास विद्यमान थे, तो ईश्वरकृष्ण का समय अवश्य ही कुशन-काल से पर्याप्त पूर्व होना चाहिये। इस प्रकार डा० तकाकुसु द्वारा प्रस्तावित अभिन्नता में यह निर्देश बाधक होगा, क्योंकि तकाकुसु ने विन्ध्यवास को ईसवी पञ्चम शताब्दी के मध्य में रक्खा है। इसके अतिरिक्त दोनों की अभिन्नता इसलिए भी मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि श्लोकवार्तिक (पृ० २९३ तथा ३०४), योगसूत्र ४।२२ की भोजवृत्ति, मनु० १।४५ के मेधातिथि-भाष्य, स्याद्वादमंजरी (चौ० संस्करण, पृ० ११७), तथा सर्वदर्शनसंग्रह की गुणरत्नटीका (पृ० १०२ तथा १०४) में उपलब्ध विन्ध्यवास के विशिष्ट विचार ईश्वरकृष्ण के विचारों के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण बातों में संगत नहीं होते।[2] कविराज जी का मत सर्वथा समीचीन है। ईश्वरकृष्ण एवं विन्ध्यवास कदापि एक नहीं हो सकते।

विन्ध्यवास के समय के विषय में इतना वक्तव्य है कि चूंकि परमार्थ के अनुसार विन्ध्यवास वसुबन्धु के समकालिक, यद्यपि अवस्था में उनसे बड़े थे और वसुबन्धु को डा० बेल्वल्कर के अनुसार २८० ई० से ३६० ई० के बीच रक्खा जा सकता है,[3] अतः विन्ध्यवास का समय भी ३०० ई० के आस-पास हो सकता है। किन्तु जैसा पूर्व उद्धरण से स्पष्ट है, डा० तकाकुसु के अनुसार

---

१. द्रष्टव्य, जयमङ्गला की भूमिका, पृ० ७।

२. द्रष्टव्य वही।

३. द्रष्टव्य डा० बेल्वल्कर का लेख, पृ० १८१ :—"The general trend of the evidence is for assigning Vasubandhu somewhere between A. D. 280 and 360, and Vindhyavasa by all accounts was Vasubandhu's older contemporary".

विन्ध्यवास का समय ईसवी पाँचवी शताब्दी का मध्य है। बौद्ध परम्परा के अनुसार यही समय ठीक जान पड़ता है। वसुबन्धु, जिन्होंने अपने गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले सांख्याचार्य विन्ध्यवास के सांख्य-शास्त्र का खण्डन करने के लिए अपना 'परमार्थसप्तति' नामक ग्रन्थ लिखा, एवं जो प्रसिद्ध योगाचार-संस्थापक असंग के छोटे भाई थे, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५-४८० ई०) के समसामयिक थे। अतः उनका समय लगभग ४२० से ५०० ई० तक माना जाता है।[1] इस प्रकार विन्ध्यवास का समय पंचम शताब्दी के मध्य तक सिद्ध होता है अर्थात् इनका समय चतुर्थ शतक का अन्तिम पाद तथा पञ्चम का पूर्वार्ध रहा होगा। जैसा ऊपर कह चुके हैं, ईश्वरकृष्ण निस्सन्देह इनसे भिन्न थे एवं कई शताब्दी पूर्व हुये थे।

विन्ध्यवास सांख्यदर्शन के अन्तर्गत वार्षगण्य की विशिष्ट विचार-धारा अथवा परम्परा के अनुयायी थे, जब कि ईश्वरकृष्ण महर्षि कपिल द्वारा प्रवर्तित एवं आसुरि, पञ्चशिख आदि के द्वारा पोषित एवं संवर्धित मुख्य धारा या परम्परा के अनुयायी थे। ७१ वीं सांख्यकारिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि तत्त्वज्ञान की जो पवित्र धारा कपिल मुनि ने आसुरि के प्रति बहाई और जिसे उनके शिष्य पञ्चशिख ने अपनी प्रतिभा से बहुरूप एवं विविध बनाया, उसे ही कालांतर में शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त करके ईश्वरकृष्ण ने सत्तर आर्यायों द्वारा अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया। विन्ध्यवास के जो उद्धरण अथवा उनके मत के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों या लेखकों की जो उक्तियाँ संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में प्राप्त होती हैं, उनके आधार पर सांख्यदर्शन की मुख्य धारा, जिनके अनुयायी या पोषक ईश्वरकृष्ण थे, से उनका वैषम्य अथवा भेद जाना जा सकता है। वे उद्धरण इस प्रकार हैं :—

(१) सन्दिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना॥ (श्लोकवा० पृ०, ३९३)

(२) अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते॥ (वही, सूत्र ५ पर श्लोक ६२)

---

१. द्रष्टव्य, Encyclopaedia of Religion and Ethics में Dr. Wogihare. प्रोफ़ेसर, टोकियो विश्वविद्यालय, का लेख, पृ० ५९५-९६।

(३) यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद् दधीति च वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिना ॥ (कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० २२)

(४) प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानमिति विन्ध्यवासिना गदितम् । (वही, पृ० ४२३)

(५) सारूप्यं सादृश्यं विन्ध्यवासीष्टम् । (वही, पृ० ६३६)

(६) विन्ध्यवासिनस्तु "पूर्वव्यक्त्यवच्छिन्नमपूर्वव्यक्तौ प्रतीयमानं सामान्यमेव सादृश्यम्, तदेकशब्दवाच्यम्" इति मतम् । साहित्य-मीमांसा, पृ० ४३)

(७) सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः । (मनु० १।५ का मेधातिथि-भाष्य)

(८) अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्—'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्' इति । (योगसूत्र ४।२२ की भोजवृत्ति)

(९) श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम् । (सिद्धसेनदिवाकर-कृत 'सन्मतितर्क' की अभयदेवसूरि-कृत व्याख्या, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर ग्रन्थावली संस्करण, पृ० ५३३)

(१०) विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥' इति ! (हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरि-कृत व्याख्या, रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता संस्करण, पृ० १०४)

(११) महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम् । (सांख्यकारिका की व्याख्या युक्तिदीपिका, पृ० १०८)

(१२) इन्द्रियाणि············विभूनीति विन्ध्यवासिमतम् । (" ")

(१३) अधिकरणमपि·······एकादशकमिति विन्ध्यवासी । (" ")

(१४) तथान्येषां महति सर्वार्थोपलब्धिः, मनसि विन्ध्यवासिनः । (" ")

(१५) सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषाम्, एकात्वं विन्ध्यवासिनः ।। (" ")

(१६) विन्ध्यवासिनस्तु विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे वृत्त्या जन्म, तत्त्यागो मरणम्, तस्मान्नास्ति सूक्ष्मशरीरं, तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः (वही पृ० १४४)

[१७] विन्ध्यवासिनस्तु नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकं च। किं तर्हि ! सिद्धिरूपमेव । तत्र परमर्षेरपि सर्गसंक्रान्तकुत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते, यस्माद् गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यते इति । अपीत्याह—सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्यानुग्रहं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति । निमित्तनैमित्तकभावश्चैवमुपपद्यते । [वही, [पृ० १४८]

पीछे दी गई वार्षगण्य के उद्धरणों के सूची के साथ इस सूची की तुलना करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि दोनों की सं० १३ के उद्धरणों में एक ही सिद्धान्त कथित है और वह यह है कि करण ग्यारह प्रकार के होते हैं, जब कि सांख्य-सूत्र [करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥ २।३८] एवं सांख्यकारिका [करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणाप्रकाशकरम्.......॥ ३२], दोनों ही में तेरह करणों का सिद्धान्त कथित है। इसी प्रकार इस सूची की संख्या ९ तथा पिछली की संख्या ५ के उद्धरणों में प्रत्यक्ष प्रमाण का ही लक्षण दिया गया है, जो सांख्य-सूत्रों तथा सांख्य कारिकाओं के लक्षणों से भिन्न है। इसी प्रकार अनुमानादि के लक्षणों एवं अन्य बातों में भी वार्षगण्य एवं विन्ध्यवास में परस्पर ऐकमत्य तथा दोनों का सांख्य-सूत्रों तथा सांख्य-कारिकाओं से वैमत्य दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वार्षगण्य और विन्ध्यवास का ईश्वरकृष्ण से अनेक बातों में वैमत्य या भेद है। इससे पूर्व प्रतिपादित इस तथ्य का भी समर्थन होता है कि न तो वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण के गुरु थे और न ही विन्ध्यवास उनसे अभिन्न। वार्षगण्य और ईश्वरकृष्ण के अभिन्न होने पर मतभेद होना असम्भव था। गुरु और शिष्य में तो थोड़ा मतभेद हो भी सकता है, पर वही व्यक्ति एक ही विषय में परस्पर विरुद्ध विचार या मत कैसे रख सकता है ? ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के परस्पर अभिन्न अथवा एक ही होने का खण्डन करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जहाँ ईश्वरकृष्ण सूक्ष्म शरीर की सत्ता स्पष्ट एवं सबल शब्दों में प्रतिपादित करते हैं (द्रष्टव्य का० ३९, ४०), वहाँ विन्ध्यवास उसका निषेध अथवा खण्डन करते हैं (द्रष्टव्य सं० २ एवं ७ के उद्धरण)। इस सबसे यह बात सर्वथा निश्चित होती है कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे। इससे डा० तकाकुसु एवं लोकमान्य तिलक आदि विद्वानों का एतद्विषयक विरुद्ध या भिन्न मत सर्वथा असंगत ही लगता है।

ईश्वरकृष्ण

पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि ईश्वरकृष्ण सांख्य के मूल प्रवर्तक कपिल द्वारा प्रचारित एवं आसुरि-पञ्चशिख आदि द्वारा संवर्धित मुख्य सांख्यीय विचारधारा के अनुयायी थे, एवं उनकी एक विशिष्ट धारा के पोषक आचार्य वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण से कई शताब्दी पूर्व तथा उस धारा के अनुयायी विन्ध्य-वास उनके पर्याप्त पश्चात् हुए थे। यह बात स्पष्ट कर आए हैं कि विन्ध्यवास का समय बौद्ध परम्परा तथा डा० तकाकुसु के अनुसार ईसवी पञ्चम शतक के मध्य तक तथा बेल्वलकर के अनुसार तृतीय शतक के मध्य के समीप सिद्ध होता है, एवं ईश्वरकृष्ण का समय कुशन-काल अर्थात् ईसवी प्रथम शतक के अन्त से पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण विन्ध्यवास से पर्याप्त पूर्व के प्रतीत होते हैं। ईश्वरकृष्ण की कुशन-काल से पर्याप्त पूर्ववर्तिता केवल उनके टीकाकार माठर के कनिष्क के शासन-काल में रक्खे जाने पर ही आधारित नहीं है, अपितु इस सुदृढ़ तथ्य पर भी आधारित है कि आधुनिक विद्वानों द्वारा ईसवी प्रथम शतक का अनुमान किए जाने वाले प्राचीन जैन-ग्रन्थ 'अनुयोग-द्वारसूत्र' में कनगसत्तरी (संस्कृत 'कनकसप्तति') नामक ग्रन्थ का उल्लेख है[1], जो पं० गोपीनाथ कविराज, पं० उदयवीर शास्त्री तथा अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार ईश्वरकृष्ण का 'सांख्यसप्तति' या सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ ही है। जब विन्ध्यवास का समय किसी भी प्रकार से २५० ई० से पूर्व का नहीं हो सकता किन्तु इसके विपरीत ईश्वरकृष्ण का समय कई आधारों पर १०० ई० से पर्याप्त पूर्व का सिद्ध होता है, तब ईश्वरकृष्ण का विन्ध्यवास से कई शताब्दी पूर्व का होना ध्रुव सत्य है। किन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वान् ईश्वर-कृष्ण को विन्ध्यवास से परवर्ती आचार्य मानते हैं। जर्नल आव् इण्डियन हिस्ट्री, भाग ६ के पृ० ३६ पर मुद्रित अपने एक लेख में श्रीयुत विनयतोष भट्टाचार्य ने ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से परवर्ती सिद्ध करने में यह हेतु दिया है कि ईश्वरकृष्ण ने सम्पूर्ण सांख्य-अर्थों को प्रस्तुत करने के लिए रचित केवल ७२ आर्याओं के संक्षिप्त ग्रन्थ में तीन आर्यायें सूक्ष्म शरीर के ही प्रतिपादन में लिखी हैं, जिससे प्रकट होता है कि इनके द्वारा वे विन्ध्यवास द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म शरीर के निषेध या अभाव का खण्डन करना चाहते हैं। किन्तु भट्टाचार्य महोदय का यह कथन नितान्त असत्य है। न तो सूक्ष्म शरीर का वर्णन ही तीन कारिकाओं में है और न सूक्ष्म शरीर का वर्णन प्रस्तुत करने वाली ४०वीं

---

१. द्रष्टव्य, अनुयोगद्वारसूत्र का ४१ वाँ सूत्र।

कारिका में विरोधी मत के खण्डन की भावना ही ध्वनित होती है। इसमें तो विषय का केवल साधारण रूप में वर्णन है, जैसा कि अन्य कारिकाओं में अन्यान्य विषयों का। ऐसी स्थिति में भट्टाचार्य महोदय का कथन अप्रामाणिक एवं असत्य ही कहा जायगा।

ऊपर कविराज जी इत्यादि विद्वानों के अनुसार 'कनकसप्तति' के 'सांख्य-कारिका' से अभिन्न ग्रन्थ होने का उल्लेख किया जा चुका है। इसके विपरीत डा० बेल्वल्कर का मत है कि ईश्वरकृष्ण-रचित 'सांख्यकारिका' या सांख्य-सप्तति' का 'हिरण्यसप्तति', 'सुवर्णसप्तति' या 'कनकसप्तति' नाम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। भोज-कृत राज-मार्तण्ड नामक योगसूत्र-वृत्ति में ४।२२ सूत्र पर विन्ध्यवास के दो वाक्य[1] उद्धृत हैं, जिनकी रचना से प्रतीत होता है कि वह व्याख्या-ग्रन्थ रहा होगा। इसी लिए यह अधिक सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर विन्ध्यवास ने 'हिरण्यसप्तति' नामक व्याख्या लिखी हो।[2] 'हिरण्यसप्तति' नाम के सम्बन्ध में डा० बेल्वल्कर का सुझाव है कि सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों में से एक 'हिरण्य' या 'हिरण्यगर्भ' के आधार पर सांख्यकारिका का नाम 'हिरण्य-सप्तति हो सकता है। बेल्वल्कर महोदय का मत समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि सांख्य में इस प्रकार का कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में कुई-ची (kuei-chi) का यह कथन ही अधिक सम्भव एवं समीचीन प्रतीत होता है कि सांख्य-सप्तति के रचयिता को स्वर्ण भेंट किए जाने का साधन होने के कारण इसी ग्रन्थ के 'हिरण्यसप्तति' 'कनकसप्तति' 'सुवर्ण-सप्तति' नाम भी पड़ गए होंगे। विन्ध्यवास के उद्धरण पीछे संगृहीत हैं, वे किसी व्याख्या-ग्रन्थ के नहीं ज्ञात होते, और सांख्य-सप्तति की व्याख्या के तो और भी नहीं, क्योंकि सांख्य-सप्तति एवं विन्ध्यवास के कई उद्धरणों के विषयों में महान् वैषम्य या भेद दिखाई पड़ता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की सांख्य-सप्तति की व्याख्या था, तब तो डा० बेल्वल्कर को भी यह बात माननी पड़ेगी कि वह व्याख्या गद्य में लिखी गई रही होगी क्योंकि योगवृत्ति में उद्धृत विन्ध्यवास-वचन गद्यात्मक ही है।

---

१. 'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्। 'बिम्बे' प्रतिबिम्बिमानच्छायास-दृशच्छायान्तरोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते'।

२. द्रष्टव्य भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० १७६-७७।

जब व्याख्या गद्य में रही होगी, तब उसका 'हिरण्य-सप्तति' नाम कैसे समञ्जस या संगत होगा, क्योंकि 'सप्तति' यह गणनापरक शब्द गद्य के सम्बन्ध में कदापि-कथनञ्चि समीचीनतया प्रयुक्त नहीं कहा जा सकता। भला गद्य की भी कहीं पद्यवत् गणना हो सकती है? इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हिरण्य-सप्तति विन्ध्यवास-कृत व्याख्या का नाम नहीं अपितु सांख्य-सप्तति या सांख्य-कारिका का ही नामान्तर रहा होगा।

डा० तकाकुसु ने सांख्य-कारिका और उसकी संस्कृत टीका, जो परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद का मूल रूप कही जाती है, दोनों का कर्ता ईश्वरकृष्ण हो माना है। चीन और जापान की परम्परा में सामान्यतः ईश्वरकृष्ण को कारिकाकार तथा बोधिसत्त्व वसुबन्धु को टीकाकार मानते हैं।[1] परन्तु जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा, अय्यास्वामी शास्त्री ने इन दोनों ही मतों को निराधार माना है और ऐसा ठीक ही किया है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सांख्य-कारिकाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी उठाया जाता है। यों तो स्वयं ग्रन्थकार ने ही ग्रन्थ के अन्त[2] में कारिकाओं की संख्या सत्तर बताई है और इनका स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध होने पर इस विषय में किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रह जाता। किन्तु चूँकि वर्तमान रूप में इस ग्रन्थ में सांख्य-सिद्धान्त विषयक ६८ ही कारिकायें उपलब्ध हैं, ६९वीं कारिका में इस सिद्धान्त के कपिलोपदिष्ट होने की बात कही गई है, ७० वीं कारिका में सांख्यशास्त्र की गुरु-परम्परा दी गई है, शेष दो कारिकायें प्रस्तुत ग्रन्थ के ही विषय में कही गई हैं जो यह बताती हैं कि ईश्वरकृष्ण ने शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए सांख्य शास्त्र को सत्तर ही कारिकाओं में संक्षिप्त करके रख दिया है

---

१. द्रष्टव्य अय्यास्वामी की भूमिका, पे० ३४—Chinese and Japanese writers attribute generally Sankhyakarika to Ishwarakrisna and the commentary to Bodhisattva Vasubandhu, and believe that the Bodhisattva wrote the commentary when he took up the refutation of the erroneous doctrines of Sankhya philosophy.

२. द्रष्टव्य, कारिका ७२ :—सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥

और इसमें 'षष्टितन्त्र' का सारा विषय आ गया है, केवल इसके आख्यान और परमत-खण्डन छोड़ दिए गए हैं, अतएव संख्या-विषयक शंका होती है। अब यदि इस ग्रन्थ की सारी कारिकायें ली जायँ तो इसकी संख्या ७२ होती है और यदि केवल सांख्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली कारिकायें ली जायँ तो संख्या ६८ ही होती है। तब फिर प्रश्न यह है कि ७०वी कारिका कौन सी है? ७२ वी कारिका पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कारिकाकार ने जो ७० संख्या दी है, वह उन्हीं कारिकाओं की दी है जो षष्टितन्त्र में आए हुए सांख्य-ज्ञान का प्रतिपादन करती है। इस प्रकार अन्तिम दो कारिकायें तो स्पष्ट ही इन ७० के बाहर हैं। अब रही ७० वी कारिका जिसमें सांख्य का गुरु-परम्परा उल्लिखित है सिद्धान्त-प्रतिपादक न होने के कारण अनेक विद्वान् इसे भी ७० के अन्तर्गत नहीं मानते। अतः उनका मत है कि एक कारिका कहीं बीच से लुप्त हो गई है।

इस प्रश्न को सर्वप्रथम लोकमान्य पं० बाल गंगाधर जी तिलक ने उठाया था, और ६१ वीं कारिका के गौडपाद भाष्य में विषयान्तर देखकर वे इस निर्णय पर पहुँचे थे कि उक्त भाष्य एक नहीं दो कारिकाओं का है और यह दूसरी कारिका इसी ६१ वीं कारिका के बाद होनी चाहिये। यह विषयान्तर गौडपाद-भाष्य के भी शब्दों में इस प्रकार है :—"केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा॥' अपरे स्वभावकारणिका ब्रुवते—'केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव' इति। अत्र सांख्याचार्या आहुः—'निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। तथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव इति। एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुणः ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। तथा केषाञ्चित् कालः कारणमिति। उक्तञ्च—'कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः'॥ इति। व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणं, स्वभावोऽपि अत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति॥" इस भाष्य के आधार पर तिलक जी ने लुप्त कारिका का जो स्वरूप निर्धारित किया, वह इस प्रकार है—

'कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

उनके मत से इस कारिका का सन्दर्भ भी ठीक बैठ जाता है। डा० हरदत्त शर्मा ने तिलक जी के पूर्वोक्त तर्क का समर्थन बड़े प्रबल शब्दों में किया है और पं० सूर्यनारायण शास्त्री के एतद्-विरोधी तर्क का खण्डन किया है[1]। पर उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि किसी भी मौलिक ग्रन्थ के किसी भाष्य में विषयान्तर प्राप्त होने मात्र से ही उसके तद्विषयक किसी अंश के लुप्त होने का निश्चय नहीं हो जाता, जब तक उसके पक्ष में अन्य सबल प्रमाण न हों। फिर तिलक जी के इस तर्क का कि 'लुप्त कारिका का पूर्वापर सन्दर्भ ठीक बैठ जाता है' डा० शर्मा ने भी समर्थन नहीं किया। शायद इसलिए कि इसका समर्थन किया ही नहीं जा सकता था। सांख्यकारिका की ५३ वीं कारिका से लेकर ६१ वीं कारिका तक के कथन का एकमात्र विषय यही है कि 'प्रकृति-कृत सर्ग केवल पुरुष के भोग एवं तदनन्तर विवेक-ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराने के लिए है और ज्यों ही प्रकृति ने पुरुष का यह अर्थ या कार्य सम्पन्न किया, त्यों ही वह उसकी ओर से निवृत्त हो जाती है और फिर कभी भी उसकी दृष्टि में नहीं आती क्योंकि वह उस परम लज्जालु सुकुमारी कुलांगना से अधिक लज्जालु है जो किसी पुरुष के द्वारा एक बार देख ली जाने पर सर्वथा उसकी दृष्टि बचाती है'। इस सन्दर्भ में उपर्युक्त कारिका की संगति कैसे बैठेगी जिसमें ईश्वर, काल, स्वभाव आदि की सृष्टिकारणता के निराकरण के साथ प्रकृति के कारण-वाद का समर्थन किया गया है? इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि ६१ वीं कारिका का गौडपादभाष्य विषयान्तर है तो उसके आधार पर गढ़ी गई तथाकथित ६२ वीं कारिका भी विषयान्तर, और वह भी मूलग्रन्थ से, प्रस्तुत करती है और इन दोनों में से मूल ग्रन्थ से होने वाला विषयान्तर ही अधिक अक्षम्य होगा। अतः तिलक जी एवं डा० शर्मा का कथन निराधार प्रतीत होता है। इसके निराधार होने का एक अन्य कारण यह भी है कि यदि वर्तमान ७० वीं कारिका सिद्धान्त प्रतिपादन-विषयक न होने से ७० के अन्तर्गत नहीं गिनी जा सकती; तो फिर वर्तमान ६९ वीं कारिका भी इसी कारण से ७० के अन्तर्गत नहीं गिनी जा सकती और इसी स्थिति में एक और कारिका तिलक सदृश किसी मनीषी को ढूँढनी होगी।

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी का ओ० बु० ए० पूना का संस्करण, संस्कृत अंश, पे० ७३-७४।

अब प्रश्न यह है कि ७० वी कारिका कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में विनम्र निवेदन है कि जो कारिका-ग्रन्थ आज-कल उपलब्ध है, उसमे प्राप्त होने वाली ७० वीं कारिका को ही सांख्यकारिका की ७० वीं कारिका मानना युक्ति-युक्त है। सन् १९२३ ई० के इण्डियन ऐण्टीक्वैरी के जुलाई वाले अंक में श्रीधर शास्त्री पाठक ने इस विषय पर जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे बड़े संगत हैं। उनके लेख का अन्तिम भाग इस प्रकार है :—

"Having thus stated our grounds for the rejection of the proposed Karika, we shall now briefly show that it is not necessary to have any Karika at all to make up the number seventy. The seventieth Karika, as it stands, gives the Guru-parampara, as is often the practice in old works. Thus the बृहदारण्यक concludes with a chapter that gives a fairly long list of succession from preceptor to pupil. The षष्टितन्त्र which is the soure of the Sankhyakarikas, must have given this Guru-parmpara, and therefore, there cannot be the least objection to counting the present seventieth Karika among the seventy, which are referred to in seventy-second verse (सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य). This is the most natural explanation. When Iswarkrishna writes that his seventy Karikas contain all matters that are treated in "the whole Shashti-tantra", he does not include only the purely doctrinal part in the word "the whole of Shashtitantra", but also the Gurupa-rampara which, we have every reason to believe formed the coneluding part of it. It does not seem, therefore, neccessary when such a simple and natural explanation of existence of the seventy Karika is available, to search for a new Karika.

सांख्यकारिका के टीकाकार

ईश्वरकृष्ण की ये कारिकायें संक्षिप्त एवं सार-गर्भित होने के कारण इतनी प्रसिद्ध हुईं कि इन पर एक नहीं, कई विद्वानों ने टीकायें लिखीं जिनमे युक्ति-दीपिका, गौडपाद-भाष्य, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी इत्यादि प्राचीन तथा नारायण-तीर्थ-कृत सांख्य-चन्द्रिका जैसी अपेक्षा-कृत अर्वाचीन टीकाएं भी हैं। किन्तु इन कारिकाओं की सर्वाधिक प्राचीन टीका शायद वह थी जिसका अनुवाद उज्जयिनी के बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने सन् ५५७ से ५६९ ई० के बीच चीनी भाषा में किया था। स्पष्ट है कि यह छठीं शताब्दी के मध्य के पर्याप्त पूर्व लिखी गई रही होगी। इसका लेखक कौन था?—इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मत-भेद

है। भूतपूर्व डा० तकाकुसु ने बहुत पूर्व लिखा था कि बील के मतानुसार यह टीका-ग्रन्थ ही गौडपाद-कृत भाष्य ही था। परन्तु बाद में जब उन्होंने इसके चीनी अनुवाद का फ्रांस की भाषा में अनुवाद किया तो उसकी भूमिका में इस प्रश्न पर विशेष विचार करने के बाद वे इस निर्णय पर पहुँचे कि "चीनी अनुवाद गौडपाद-भाष्य का नहीं है, फिर भी दोनो में कुछ सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि दोनों के अनेक शब्द, उद्धरण तथा [illegible] दृष्टान्त अनुरूप या समान हैं"।[1] प्रो० बेल्वल्कर चीनी अनुवाद तथा माठर वृत्ति की तुलना करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि माठर-वृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल रूप है[2]। परन्तु लोकमान्य तिलक बहुत पूर्व सन् १९१५ में माठर-वृत्ति की किसी हस्त-लिखित प्रति के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों का निरीक्षण एवं विचार करने के अनन्तर इस निर्णय पर पहुँचे थे कि माठर-वृत्ति एवं चीनी अनुवाद का मूल (संस्कृत रूप)--दोनो एक नहीं हो सकते[3]। प्रो० कीथ तथा पं० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री भी इसी मत के हैं। पं० अय्यास्वामी शास्त्री भी चीनी अनुवाद के स्व-कृत संस्कृत रूपान्तर की भूमिका में उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की सविस्तर एवं सूक्ष्म तुलना के बाद इसी निर्णय पर पहुँचे हैं। उनके मत में न तो माठर-वृत्ति और न गौडपाद-भाष्य ही चीनी अनुवाद के मूल रूप हैं। ४५० ई० से पूर्व के जैन-ग्रन्थ 'अनुयोगद्वार-सूत्र' में उल्लिखित सांख्य-ग्रन्थ 'माठर' तथा जैन ग्रन्थकार हरिभद्र सूरि द्वारा रचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' पर स्व-रचित टीका में गुणरत्न द्वारा उल्लिखित 'माठर-भाष्य' के आधार पर अय्यास्वामी शास्त्री इसी 'माठर' या 'माठर'-भाष्य' को चीनी अनुवाद का मूल रूप मानने के पक्ष में है। अपनी इस मान्यता के लिए उन्होंने प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं[4]।

अय्यास्वामी शास्त्री के तर्कों से माठर-भाष्य के चीनी अनुवाद का मूल सिद्ध होने के अतिरिक्त डा० तकाकुसु के इस मत का भी खण्डन हो जाता है कि सांख्यकारिका और उसकी टीका, जिसका अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में किया, दोनों ही ईश्वरकृष्ण ने ही लिखी थी; क्योंकि किसी भी विषय में एक

---

१. द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा लिखित सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृ० ३।

२. द्रष्टव्य Bhandarkar Commemoration volume, पृ० १७१-७४।

३. द्रष्टव्य Sanskrit Research भाग १, पृ० १०८।

४. द्रष्टव्य सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र की भूमिका, पृ० ३७-३९।

ही ग्रन्थकार का वैसा मत-वैषम्य कैसे हो सकता है, जैसा सांख्यकारिका और चीनी अनुवाद में पाया जाता है। जैसे पञ्च तन्मात्रों और इन्द्रियों, दोनों की ही उत्पत्ति सांख्यकारिका २२ और २५ में अहङ्कार से बताई गई हैं, पर चीनी अनुवाद में ३[1] ८[2], १०, १५, १९[3] और ६८ कारिकाओं के व्याख्यान में सारी इन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रों से, और ये पञ्च तन्मात्र स्वयं अहङ्कार से निकले हुए कहे गये है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में भी दोनों में मत वैषम्य है। यद्यपि सांख्यकारिका में इसके विषय मे स्पष्ट कुछ भी नही कहा गया है,[4] तथापि ३९वीं कारिका को २४वीं, २५वीं और ३८वीं कारिकाओं के साथ मिलाकर पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरकृष्ण के मत से यह शरीर महत्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र तथा एकादश इन्द्रियाँ—इन अठारह तत्त्वों का बना होता है, और गौडपाद-भाष्य को छोड़ कर अन्य सभी टीकाओं की भी यही मान्यता है। परन्तु गौडपाद-भाष्य एवं चीनी अनुवाद मे इसे महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—इन सात ही तत्त्वों का बना बताया गया है। इस प्रकार शास्त्री जी के मत से वह टीका, जिसका अनुवाद परमार्थ ने ५४६ ई० मे चीन जाने के बाद किया, स्वयं ईश्वरकृष्ण की लिखी हुई नहीं हो सकती। चीन और जापान के लेखकों का यह मत है कि सांख्य-कारिका की उपर्युक्त संस्कृत-टीका वसुबन्धु की लिखी हुई है, पर अय्यास्वामी के पूर्वोक्त तर्कों से यह मत भी सही नहीं लगता।

माठर-वृत्ति, जैसा पहले कहा जा चुका है, अय्यास्वामी के अनुसार चीनी व्याख्या के मूल रूप 'माठर-भाष्य' का ही संक्षिप्त रूप है। परन्तु प्रो० बेल्वल्कर ने 'भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ' (पृ० १७२-१८४) में इसे ही परमार्थ के चीनी अनुवाद का पूर्व-रूप सिद्ध किया है। अय्यास्वामी ने अपने सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र की भूमिका (पृ० ३०) एवं महामहोपाध्याय, डा० उमेश मिश्र ने आल इण्डिया

---

१. अहङ्कारो महत उत्पन्न इति विकृतिः, पञ्चतन्मात्राणि जनयतीति प्रकृतिः। पंचतन्मात्राणि अहङ्कारादुत्पन्नानि इति विकृतयः, महाभूतानि इन्द्रियाणि च उत्पादयन्तीति प्रकृतयः।

२. अहङ्कारात् पंचतन्मात्राणि, पंचतन्मात्रेभ्यः षोडश विकारा उत्पद्यन्ते।

३. (प्रधानं) आदौ बुद्धिमुत्पादयति, बुद्धिरहंकारम्, अहङ्कारात्पंचतन्मात्राणि, पंचतन्मात्रेभ्य एकादशेन्द्रियाणि पंचमहाभूतानि चोत्पादयति।

४. अय्यास्वामी शास्त्री का यह कथन प्रौढोक्ति-मात्र अतश्च निस्सार है, क्योंकि ४० वीं कारिका में स्पष्ट ही सूक्ष्म शरीर का वर्णन है।

ओरियण्टल कान्फरेन्स के छठें अधिवेशन में पठित 'गौड़पाद-भाष्य एवं माठर-वृत्ति' नामक अपने लेख में इसका समय १००० ई० के आस-पास माना है। डा० जानसन ने भी अपने 'Early Sankhya' नामक ग्रन्थ (पृ० ११) में लगभग यहीं बात कही है।

परन्तु इन समस्त विद्वानों के मत के विरुद्ध पं० उदयवीर शास्त्री माठर-वृत्ति को सांख्य-कारिका की सबसे प्राचीन टीका मानते हैं। इतना ही नहीं, अपितु वे इसे परमार्थ द्वारा चीनी में अनूदित, सांख्य-कारिका की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या से अभिन्न मानते हैं और अय्यास्वामी के उपर्युक्त इस मत का खण्डन करते हैं कि परमार्थ द्वारा अनूदित संस्कृत-व्याख्या 'माठर-वृत्ति' से भिन्न 'माठर-भाष्य' थी। उन्होंने लिखा है कि 'हमारी ऐसी धारणा कि सांख्य-सप्तति के उपलभ्यमान सब ही व्याख्या-ग्रन्थों में माठर की वृत्ति सबसे प्राचीन है।...... सांख्यतत्त्वकौमुदी एक निश्चायक केन्द्र है। इसका काल सर्वसम्मति से निर्णीत है, उसने (अर्थात् वाचस्पति ने) स्वयं भी अपने काल का निर्देश कर दिया है। जयमंगला सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन है। युक्तिदीपिका जयमंगला से प्राचीन है। इसका उपपादन किया जा चुका है। माठरवृत्ति युक्तिदीपिका से भी प्राचीन है'।[1] इसका प्रमुख कारण शास्त्री जी ने यह दिया है कि युक्ति-दीपिका में अनेक स्थानों पर ऐसे मतों का स्मरण किया गया है अथवा उनका खण्डन किया गया है जो माठर-वृत्ति में उपलब्ध हैं। युक्ति-दीपिका के उन पाठों से सहज ही निर्णय किया जा सकेगा कि ये मत माठर से लिये गये हैं। इसके अनन्तर उन्होंने ऐसे पाँच स्थलों का सविस्तर निर्देश किया है। दूसरा कारण शास्त्री जी ने यह दिया है कि माठर में ऐसे अर्थसम्बन्धी मत-भेदों का अभाव होने से यह बात सिद्ध है कि माठर का व्याख्या-ग्रन्थ उपलब्ध सभी टीकाओं से प्राचीन है। यह ऐसी बात न होती तो अन्य टीकाओं की भाँति ही उसमें भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतान्तरों के उल्लेख अवश्य ही प्राप्त होते। केवल १८ वीं कारिका के 'जन्ममरणकरणानाम्' के व्याख्यान में माठर ने स्वाभिमत अर्थ देकर उसके विकल्प रूप से एक दूसरा अर्थ 'अपरे पुनरित्थङ्कारं वर्णयन्ति' इत्यादि शब्दों के द्वारा दिया है जिसे माठर के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन टीकाकारों ने अपनाया है। यदि माठर सबसे प्राचीन टीककार हैं, तो प्रश्न होता है कि उन्होंने 'अपरे' के द्वारा किसके अर्थ का कथन किया है। इससे दो सम्भाव्य समाधान शास्त्री जी ने दिये हैं। प्रथम समाधान तो यह दिया है कि

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४०८।

माठर के द्वारा दिया गया यह अर्थ किसी आचार्य-विशेष का न होकर परम्परागत है जो कारिका की रचना के अनन्तर ही प्रचलित हुई पठनपाठन की प्रणाली में प्रचार में आ गया होगा। दूसरा समाधान शास्त्री जी ने यह दिया है कि जयमंगला इत्यादि की रचना के अनन्तर माठर-वृत्ति से किसी प्रतिलिप-लेखक ने हाशिये पर उन शब्दों में इस अर्थ का निर्देश कर दिया होगा, जो कालान्तर में अज्ञानवश ग्रन्थ के ही भाग समझ लिये गये। जहाँ तक भागवत आदि के एकाध उद्धरण के माठर-वृत्ति मे प्राप्त होने की बात है, उसे शास्त्री जी प्रक्षिप्त मानते हैं। माठर-वृत्ति में वर्णित मोक्ष की सुखात्मकता, जो सांख्य-विरुद्ध है, का भी वे इसी आधार पर समाधान करते हैं।

सांख्यकारिका की दूसरी प्राचीन टीका गौडपाद-भाष्य है जिसे उदयवीर जी ने ५५० ई० के लगभग माना है। परन्तु इस भाष्य के कर्ता गौडपाद को शास्त्री जी आचार्य शङ्कर के परम गुरु एवं माण्डूक्य-कारिकाओं के प्रसिद्ध रचयिता गौडपादाचार्य से भिन्न समझते हैं। इसका कारण वे यही देते हैं कि गौडपाद-भाष्य की शैली, उसका प्रतिपाद्य विषय आदि प्रसिद्ध गौडपाद की गुरु-गम्भीर अत्यन्त संक्षिप्त शैली एवं गुरुतर-गम्भीरतर दार्शनिक विवेचन से पर्याप्त भिन्न है। गौडपाद-भाष्य मे ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे उसे माण्डूक्य-कारिकाओं के रचयिता गौडपाद की कृति कहा जा सके। वैसे शास्त्री जी का मत सत्य हो सकता है पर उनका तर्क अकाट्य या निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। यों गौडपाद-भाष्य की भी व्याख्यान-शैली इतनी संक्षेपात्मक है कि यह ग्रन्थ गौडपाद-कृत हो सकता है। जहाँ तक इसके तथा प्रसिद्ध शंकर-गुरु गौडपाद के विचारो के वैषम्य या विरोध का प्रश्न है, उसका समाधान यह हो सकता है कि प्राचीन अनेक आचार्यों ने स्वमत से भिन्न मत का प्रतिपादन करने वाले प्रथित ग्रन्थों की भी टीकायें की है। उसमें कोई विरोध नहीं दिखता।

सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में 'जयमंगला' भी एक है। यह शंकराचार्य के नाम से प्रचलित है। परन्तु इसका जो संस्करण बहुत पूर्व काशी से निकला था, उसकी भूमिका में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने स्पष्ट किया है कि यह भाष्यकार शंकराचार्य की लिखी टीका नहीं हो सकती। इसका कर्त्ता शंकरार्य नामक कोई बौद्ध भिक्षु था। ५१ वीं कारिका में आई हुई अष्ट सिद्धियों का स्वाभिमत व्याख्यान देकर तत्त्वकौमुदीकार ने 'अन्ये व्याचक्षते' इत्यादि शब्दों द्वारा अपने पूर्ववर्ती किसी व्याख्याता के मत का उल्लेख किया है।

महामहोपाध्याय डा० हरदत्त शर्मा का कथन[1] है कि यह मत जयमङ्गलाकार का है। यदि यह सत्य है तो जयमङ्गलाकार का समय वाचस्पति मिश्र के समय अर्थात् नवम शताब्दी से पहले का होगा। वैसे [illegible] में भी अष्ट सिद्धियों का इसी प्रकार का व्याख्यान मिलता है और हो न हो, वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त स्थल में गौडपाद का ही मत दिया हो। यदि यह सम्भावना सत्य भी हो तो भी अन्य अनेक स्थलों में वाचस्पति द्वारा जयमङ्गला का अनुसरण किये जाने से जयमङ्गलाकार का समय निस्सन्देह वाचस्पति से पूर्व का सिद्ध होता है।

सांख्यकारिका की दो और टीकायें भी हैं जो अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन हैं। एक तो है मुडुम्ब नरसिंह स्वामिन् की 'सांख्यतरुवसन्त' नामक टीका और दूसरी है नारायण तीर्थ की सांख्यचन्द्रिका'। दोनों का ही समय बहुत बाद का है। नारायण तीर्थ मधुसूदन सरस्वती के बाद के होने के कारण सत्रहवीं के उत्तरार्ध तथा अठारवीं के प्रथम बाद के होंगे। सांख्यचन्द्रिका भी संक्षिप्त टीका है। यद्यपि यह बहुत बाद की रचना है, तथापि माठर-वृत्ति की भाँति इसमें सांख्य के साथ वेदान्त का सम्मिश्रण प्रायः नहीं मिलता। हाँ, मुख्यतः वेदान्ती विचार-धारा के पोषक होने के कारण नारायण तीर्थ ने यत्र-तत्र सांख्य-सिद्धान्तो के प्रतिपादन में वेदान्त का प्रमाण अवश्य दिया है। जैसे ६३ वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति—सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक-रूपेण—के व्याख्यान में पुरुषार्थ को 'स्वस्वरूपावस्थानं मोक्षम्' भर ही कहा है, स्वरूप में माठर-वृत्ति की भाँति चित् के साथ आनन्द का समन्वय करके उसे वेदान्ती मोक्ष का स्वरूप नहीं दिया है। परन्तु आगे 'एक रूपेण' का व्याख्यान करते हुए 'एकेन रूपेण ज्ञानेन मोचयति संसारान्निवर्तयति; एतेन वैराग्योपरत्याद्यभावेऽपि ज्ञानं मोक्षस्य कारणं भवत्येवेति ज्ञापितम्, उक्तं च तथा वेदान्तेषु—पूर्णबोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा। मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्ट-दुःखं न नश्यति॥' इत्यादि लिखा है। वेदान्त के विद्यार्थी को स्पष्ट ही ज्ञात होगा कि यह विषय पंचदशी इत्यादि में सविस्तर प्रतिपादित है। पर वेदान्त से भी बढ़-कर इसमें योगशास्त्र के प्रमाण मिलते हैं। सारी टीका इस शास्त्र के उदाहरणों से भरी है। इसका मुख्य कारण तो यह है कि सांख्य का व्यावहारिक पक्ष योग ही

---

१. द्रष्टव्य 'Jayamangala and other commentaries on the Sankhya-Karikas' in Indian Historical Quarterly. Vol. V, P. 429

है, बिना यौगिक क्रियाओं के सांख्य के सत्यों का अनुभव नहीं किया जा सकता। अतः दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सांख्य के ग्रन्थ में योग के उद्धरणों का प्राप्त होना स्वाभाविक है। पर इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त होने का कारण यह भी है कि नारायण तीर्थ स्वयं योगी थे। अतः उनका दृष्टिकोण सर्वत्र एक योगी का ही रहा है।

सांख्य-कारिका की उपर्युक्त सभी टीकायें अपना कुछ न कुछ वैशिष्ट्य रखती है। परन्तु वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी टीका इन सबसे बढ़कर है। इतनी पाण्डित्य-पूर्ण तथा गम्भीर टीका और कोई नहीं है। अन्तिम कारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका को षष्टितन्त्र के सारे विषयों का प्रतिपादक होने के कारण 'शास्त्र' कहा और किसी 'शास्त्र' ग्रन्थ का जैसा गुरु-गम्भीर विवेचन होना चाहिये, इनकी तत्त्वकौमुदी में वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है। इस टीका में प्रवेश पाने का न तो सहसा साहस ही होता है और न सहसा प्रवेश मिलता ही है। इसकी इस दुरूहता का कारण जहाँ एक ओर वाचस्पति मिश्र का अगाध आचार्यत्व है, वहाँ दूसरी ओर उनकी नैयायिक-शैली भी है जो लिङ्ग एवं व्याप्ति-ज्ञान का ही विशेष आश्रय लेती है। साथ ही ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं की सूत्रात्मक सूक्ष्मता भी इसमें कम हेतु नहीं है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र समस्त दर्शन-शास्त्रों में निष्णात थे, इसलिए भारतीय पण्डित-समाज उन्हें 'द्वादश-दर्शन-कानन-पंचानन' कहकर उनके प्रति अपना असीम श्रद्धाभाव एवं समादर प्रकट करता है। उनकी जैसी अप्रतिहत गति शाङ्कर वेदान्त में थी जिसके वे मानने वाले थे और जिसके दो प्रस्थानों में से 'भामती-प्रस्थान' के वे प्रवर्तक थे, वैसी ही गति न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग में भी थी। ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य पर लिखी हुई भामती यदि आज भी उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रतीक बनी हुई है, तो न्याय के तात्पर्य का उद्घाटन करने वाली न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका भी आद्यावधि उनकी अक्षय कीर्ति की सुदृढ़ स्तम्भ बनी है, और उनकी सांख्य-कारिकाओं की टीका **तत्त्वकौमुदी** तथा योगभाष्य की टीका **तत्त्ववैशारदी** भी किसी प्रकार से कम महत्त्व की नहीं है। इतने विविध शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुये भी उन्होंने जिस समय जिस शास्त्र का व्याख्यान करना आरम्भ किया है, उस समय उसी के रहस्यों को खोलने और गुत्थियों को सुलझाने की पूर्ण निष्ठा और तत्परता के साथ चेष्टा की है। इतर शास्त्रों की विरोधी और बेमेल बातें

उठाकर वे किसी शास्त्र-विशेष में श्रद्धा रखने वाले पाठक की बुद्धि को उद्भ्रान्त नहीं करते। न्याय में सांख्य एवं सांख्य में वेदान्त के उच्चतर सिद्धान्तों को उठाकर प्रस्तुत शास्त्र के सिद्धान्तों की ही हीनता नहीं प्रकट करते।

सांख्य-कारिका में अनेक ऐसे स्थल आये हैं, जहाँ आचार्य वाचस्पति का स्पष्ट मत-भेद रहा होगा; पर उन्होंने बिना किसी भी प्रकार की टीका-टिप्पणी किए उसके प्रतिपाद्य विषय का बड़ी सत्यता के साथ विवेचन किया है। उनकी यह विशेषता पाठकों के हृदय को उनके प्रति श्रद्धा से आवर्जित कर देती है। उदाहरणार्थ, सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली नवम कारिका के व्याख्यान में जहाँ वेदान्त के मायावाद का प्रसङ्ग आया है, वहाँ अपने सिद्धान्त का मोह छोड़कर 'प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वक्तुम्' ऐसा लिखकर उसका खण्डन ही किया है, ताकि सांख्य के विद्यार्थी की उसके सत्कार्यवाद अर्थात् 'प्रकृति का जगत् रूप कार्य सत् ही है, असत् नहीं क्योंकि असत् की उत्पत्ति शश-शृङ्ग की भाँति असम्भव है'—इस सिद्धान्त में श्रद्धा हो सके। इसी प्रकार अठारहवीं कारिका में पुरुष का बहुत्व सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क सदोष प्रतीत होते हैं। यदि आचार्य वाचस्पति मिश्र चाहते तो वे इनकी कटु आलोचना कर सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया है, अपितु गम्भीरता पूर्वक उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। ये तर्क सदोष या यथार्थ इसलिये हैं कि जिस 'पुरुष' का वास्तविक अनेकता सिद्ध करने के लिए तर्क दिए गए हैं, वह तो परमार्थतः असंग, उदासीन और अव्यवहार्य है, और जो तर्क दिए गये, वे सामान्य या व्यावहारिक जीवन के हैं। वस्तुतः कभी भी जन्म और मरण न प्राप्त करने वाला 'पुरुष' जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' (अर्थात् सभी पुरुष एक साथ जन्म एवं मरण न प्राप्त करने के कारण एक हो नहीं सकते, एक ही होते तो एक साथ ही जन्म लेते और मरते) इत्यादि तर्कों के आधार पर अनेक कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए स्वतः प्रवृत्त होने वाली अचेतन प्रकृति के लिए ५७वीं कारिका में दिया गया 'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य' इत्यादि दृष्टान्त कुछ संगत नहीं प्रतीत होता। पर इसके विरुद्ध कुछ कहने के स्थान में आचार्य ने ईश्वरवाद की ही बड़ी मीठी चुटकी[1] ली है।

पर जहाँ आचार्य वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी में उपर्युक्त गुण हैं वहाँ कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि उनकी सांख्य और योग की टीकायें उन

१, द्रष्टव्य का० ५७ की तत्त्वकौमुदी का द्वितीय पैरा।

शास्त्रों के रहस्यों को पूर्णतः उद्घाटित करने की दृष्टि से बहुत सफल नहीं कही जा सकती। उनका कथन है कि वाचस्पति मिश्र प्रकाण्ड आचार्य अवश्य थे परन्तु योगी नहीं थे और बिना स्वयं योगी हुए योग के द्वारा प्रत्यक्षीकृत मर्मों तथा रहस्यों का उद्घाटन दुष्कर है। इसीलिए छठीं कारिका जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रमेय का ज्ञान किस प्रमाण से होता है का उनका व्याख्यान ठीक नहीं है। उन्होंने समान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रधान और पुरुष का ज्ञान तथा उससे भी प्रतीत न होने वाले स्वर्ग, देवता इत्यादि का ज्ञान आगम प्रमाण से बताया है। वस्तुतः इस कारिका का अर्थ यह है कि सर्वसामान्य वस्तुओं का ज्ञान 'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से, प्रकृति तथा पुरुष जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से तथा अतीन्द्रिय 'कैवल्य' का ज्ञान आगम प्रमाण से होता है[1]। नारायण तीर्थ ने 'सामान्यतस्तु दृष्टात्' इत्यादि प्रथम पंक्ति का यही अर्थ किया है, परन्तु 'तस्मादपि चासिद्धम् परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्' इस द्वितीय पंक्ति का वैसा ही अर्थ[2] किया है, जैसा वाचस्पति मिश्र ने। गौडपाद-कृत अर्थ[3] तो सर्वथा आचार्य वाचस्पति मिश्र का ही अर्थ है। ऐसी स्थिति में कौन सा अर्थ कारिकाकार का अभिप्रेत अर्थ है—यह कहना यद्यपि कठिन है, तथापि द्वितीय अर्थ के पक्ष में इतना अवश्य वक्तव्य है कि सांख्य-शास्त्र प्रमाण प्रधान नहीं, प्रमेय-प्रधान है और इसके प्रमुख प्रमेय 'प्रकृति' एवं 'पुरुष', तथा इनका अन्तिम लक्ष्य इन दोनों के विवेक-ज्ञान से प्राप्तव्य 'कैवल्य' ही है। अतः इसमें जो महत्त्व इनका है, वह याग, स्वर्ग, देवता इत्यादि का नहीं है।[4] ऐसी स्थिति में अधिक स्वाभाविक यही है कि प्रमाणों का प्रमेयों में यथा-योग्य उपयोग बताने वाली सांख्यकारिका में कैवल्य-विषयक प्रमाण का कथन अवश्य हो,

---

१. इस अर्थ के लिए मैं पूज्य पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी का ऋणी हूँ। उनसे ज्ञात हुआ कि पं० गोपीनाथ जी कविराज इसी को ठीक मानते थे।

२. तस्मादपि (अनुमानादपि) परोक्षमतीन्द्रियं यागस्वर्गसाधनत्वादि, आप्तागमात् शब्दप्रमाणादित्यर्थः। —का० ६ की सांख्यचन्द्रिका।

३. सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां....सिद्धिः। प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टेनानुमानेन साध्येते। तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्, यथेन्द्रो देवराज उत्तराः कुरवः स्वर्गेऽप्सरस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम्॥—का० ६ का गौडपाद-भाष्य॥

४. द्रष्टव्य, प्रस्तुत भूमिका में पूर्व आया हुआ पञ्चशिख का विवरण।

चाहे याग, स्वर्ग और देवता इत्यादि गौण विषयों में प्रवृत्त होने वाले प्रमाण का कथन हो या न हो। इस दृष्टि से तो द्वितीय अर्थ ही अधिक संगत लगता है।

इसी प्रकार पुरुष-बहुत्व को सिद्ध करने वाले तर्कों की प्रतिपादक अठारहवीं कारिका के अर्थ में वाचस्पति मिश्र ने कोई विशेष मौलिकता नहीं दिखाई है, यद्यपि इसके लिये अवकाश था; क्योंकि जैसा थोड़ा पहले कहा जा चुका है, कारिकाकार के तर्क 'पुरुष-बहुत्व' को सिद्ध नहीं कर पाते और उनकी इस त्रुटि को वाचस्पति मिश्र ने अवश्य अनुभव किया होगा। पर इसके लिए उन्होंने कोई दृढ़तर तर्क नहीं दिया, यद्यपि दृढ़तर तर्क दिए जा सकते थे। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले सांख्य और योग के परम विद्वान् एवं योगी हरिहरानन्द आरण्यक ने अपने 'सांख्य-तत्त्वालोक' में इस विषय पर सुदृढ़ एवं मौलिक तर्क प्रस्तुत किया है।[1]

इससे तत्त्वकौमुदी का मूल्य कम नहीं किया जा सकता, यह निर्विवाद है। आधुनिक काल में इस पर अनेक टीकायें लिखी जा चुकी हैं, जिसमें स्वामी बालराम उदासीन की विद्वत्तोषिणी, पंडितसम्राट् वंशीधर मिश्र की वृहत् टीका **सांख्य - तत्त्व - दिवाकर**, श्री कृष्णवल्लभाचार्य की **किरणावली**, शिवनारायण शास्त्री की **सारबोधिनी**, तथा पं० हरीराम शुक्ल की सुषमा अधिक प्रसिद्ध है।

सांख्य-शास्त्र के कुछ प्रमुख सिद्धान्त

१. प्रमाण

सांख्य शास्त्र मुख्यतः प्रमेय शास्त्र है, प्रमाण-शास्त्र नहीं, यह पहले कह चुके हैं। परन्तु प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से ही होने के कारण इनकी आवश्यकता सांख्य-शास्त्र को भी है ही। अतः प्रमेयों पर सविस्तर विचार करने के पूर्व प्रमाणों पर भी कुछ गहराई में जा कर विचार कर लेना सर्वथा उचित ही होगा। ये प्रमाण तीन हैं—दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आप्तवचन (आगम)। अन्य मतों में माने जाने वाले इनके अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाणों का सांख्य के अनुसार इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। 'प्रमाण' सामान्यतः प्रमा अर्थात् यथार्थ-ज्ञान के मुख्य साधन को कहते हैं। तत्त्वकौमुदी के शब्दों में 'यह मुख्य साधन वह चित्तवृत्ति है, जिसका विषय निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होने वाला न हो तथा पूर्व से ज्ञात न रहा हो। ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न, अत-

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वालोक, पृ० ३, ४।

एव उसका फलभूत पुरुषवर्ती[1] बोध[2] प्रमा है। इसी के साधन को प्रमाण कहते हैं। इस कथन में संशय, भ्रम तथा स्मृति के साधनों में प्रमाण की प्रसक्ति नहीं हो सकती अर्थात् इन सबके साधन प्रमाण नहीं हो सकते'।[3] परन्तु सांख्य-तत्त्वकौमुदी के प्रसिद्ध टीकाकार राजेश्वर शास्त्री, बालराम, श्रीकृष्ण बल्लभाचार्य तथा शिवनारायण शास्त्री इत्यादि 'असन्दिग्धा···प्रमाणमिति' पाठ मानते हैं। इसके अनुसार सांख्य शास्त्र में कोई अर्थ केवल प्रमाण ही होता है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय इत्यादि। कोई प्रमा और प्रमाण दोनों ही होता है, जैसे चित्तवृत्ति; यह सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण प्रमा भी है तथा पौरुषेय बोध का करण—मुख्य कारण—होने से प्रमाण भी है। कोई केवल प्रमा होता है, जैसे पौरुषेय बोध। कोई केवल प्रमाता ही है, जैसे बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जिसे व्यवहार में 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार चित्त-वृत्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न पौरुषेय बोध दोनों ही प्रमा हैं। इनमें से प्रथम का पर्यवसान दूसरे प्रकार की प्रमा में होता है। अतः उसका फल होने के कारण दूसरी ही मुख्य प्रमा है। प्रमा का साधन होने के कारण प्रमाण भी द्विविध होगा। एक प्रमाण तो चित्त-वृत्ति का मुख्य साधन होने के कारण अर्थ-सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ हैं और दूसरा प्रमाण पौरुषेय बोध का साधन होने के कारण यह चित्त-वृत्ति ही है। नीचे फुटनोट १ में उद्धृत तत्त्व कौमुदी की राजेश्वरशास्त्री-कृत टिप्पणी राजनारायणशास्त्री-कृत सारबोधिनी, बालरामकृत-विद्वत्तोषिणी[4] तथा श्रीकृष्णवल्लभाचार्य-कृत किरणा-

१. पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वामाख्यायते येन प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात् पौरुषेय इत्यभिधीयते, एवं च चितिचित्तयोरभेदग्रहात् पुरुष उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतो बुद्धिवृत्त्यात्मक एव बोधो, न पुरुषधर्म इति विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. नैयायिकानामनुव्यवसायो, घटज्ञाने 'घटमहं जानामि' इति पुरुषगतः।
—डा० झा

३. द्रष्टव्य का० ४ पर सांख्य-तत्त्वकौमुदी :—तच्च असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसङ्गः।

४. एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याः चित्तवृत्तेर्यत्साधनं सन्निकर्षरूपव्यापारवच्चक्षुरादि, यच्च पौरुषेयबोधकरणं चित्तवृत्तिरूपं तदुभयमपि प्रमाणमित्यर्थः।—विद्वत्तोषिणीकाराः।

वली[1] में प्रस्तुत व्याख्यायें इसी अभिप्राय (द्विविध-प्रमा) को दृष्टि में रखकर की गई हैं। परन्तु यह अर्थ संगत इसलिए नहीं जान पड़ता क्योंकि अगली कारिका के व्याख्यान में स्वयं वाचस्पति मिश्र भी एक ही प्रमाण (चित्तवृत्ति-रूप) तथा एक ही प्रमा मानते हुए प्रतीत होते हैं। फिर इन्द्रियों को प्रमाण मानने पर न्याय से सांख्य का क्या भेद रह जायेगा ? सांख्य तो प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियों की उतनी ही आवश्यकता मानता है, जितनी जलाशयस्थ जल के खेत पहुँचने में प्रणालिका (नाली) की होती है। तब फिर इन्द्रियाँ प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा का करण या मुख्य साधन कैसे हो सकती हैं ? स्वयं उदासीन जी के द्वारा कारिका के अन्तर्गत किया गया विषयोपन्यास[2] उपर्युक्त के साथ विरोध उपस्थित करता है।

ओ० बु० एजेन्सी पूना से डा० गङ्गानाथ झा के अनुवाद के सहित प्रकाशित संस्करण में 'तच्च असंदिग्ध.......' ही पाठ है और इसी के अनुसार डा० झा का अनुवाद भी है। सांख्यतत्त्वदिवाकर में पं० वंशीधर ने भी यही पाठ रक्खा है। इस पाठ के अनुसार 'तत्' पद के द्वारा पूर्व प्रयुक्त 'प्रमाण' का परामर्श होता है, जैसा कि वंशीधर में 'तच्च' के 'प्रमाणं च' अर्थ से स्पष्ट है।

यह कहने की आवश्यकता न होगी कि इस पाठ के अनुसार एक ही प्रमाण तथा एक ही प्रमा सांख्य को इष्ट ज्ञात होती है। यद्यपि 'द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः।.....' इत्यादि सांख्य-सूत्र से प्रमा और उसके साधन द्विविध ज्ञात होते हैं, तथापि पांचवी कारिका तथा उसके वाचस्पतिमिश्र-कृत व्याख्यान

---

१. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यायाः एतादृशचित्तवृत्तेः प्रमात्वे इन्द्रियाणि प्रत्यक्षं प्रमाणमिति बोध्यम्। एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यां चित्तवृत्त्यात्मिकाम् अमुख्यां पुरुषवर्ती बोधः—बुद्धिधर्मोपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन पुरुषे उपचर्यमाणः—सा मुख्या प्रमेत्यर्थः। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणमिति बोध्यम्। एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति—तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याश्चित्तवृत्तेः यत् साधनं पदार्थेन सह सन्निकृष्टं चक्षुरादि, एवं तस्य पौरुषेयबोधस्य यत् साधनं चित्तवृत्तिः, तदुभयमपि प्रमाणम्।

—किरणावली

२. इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानोऽयं घट इत्यादिबौद्धो बोधः प्रमाणम् तदनुरूपं जायमानो घटमहं जानामीत्यादिपौरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः।

—का० ५ पर विद्वत्तोषिणी

में तो चित्तवृत्ति ही एकमात्र प्रमाण तथा पुरुष-गत बोध ही एकमात्र प्रमा ज्ञान होती है। मूल के 'चित्तवृत्तिः' पर टीका करते हुए वंशीधर ने लिखा है—'सिद्धान्ते चक्षुरादेः करणत्वाभावादाह-चित्तवृत्तिरिति । तत्साधनं प्रमाणम् इत्यत्रान्वेति' ॥

राजेश्वर शास्त्री द्राविड ने अपनी टिप्पणी में इस विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत करते समय इस प्रकार लिखा है :—

''चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धिवृत्तिः वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं वा फलपदार्थः, स एव मुख्यप्रमाशब्दवाच्यः । एतादृशप्रमाकरणत्वेन बुद्धि वृत्तेः प्रमाणत्वं व्यपदिश्यते, तत्करणत्वेन च इन्द्रियादीन्यपि प्रमाणशब्दवाच्यानि भवन्ति । तथा च एतन्मते प्रमा प्रमाणं च द्विविधम् । अतः 'अयं घटः' इत्याद्याकारिका अन्तः-करणवृत्तिः प्रमाणम् 'घटमहं जानामी' त्याद्यनुव्यवसायः पुरुषे बुद्धिवृत्ति-प्रतिबिम्बरूपः पौरुषेयो बोधः इति यत् केषाञ्चित् व्याख्यानं तन्निरस्तम् ।'' उनका यह कथन कितना अर्थवान् है, यह पूर्व किए गये प्रतिपादन से ही स्पष्ट है ।

अब जहाँ तक प्रत्यक्ष इत्यादि विशिष्ट प्रमाणों के लक्षण का प्रश्न है, उसका समाधान सांख्यकारिकाकार ने अपने ग्रन्थ की पाँचवीं कारिका[1] में किया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रत्यक्ष के लक्षण में आये हुये 'प्रतिविषय' पद का अर्थ है—विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय । 'प्रतिविषयाध्यवसाय' का अर्थ है—विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मक ज्ञान । 'अध्यवसाय' ज्ञान को कहते हैं जो बुद्धि[2] का व्यापार या परिणाम है । यह इन्द्रियों का व्यापार नहीं, यद्यपि इन्द्रियों के व्यापार से ही बुद्धि का व्यापार सम्भव है। वस्तुतः सन्निहित विषय वाली इन्द्रियों का (उन विषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धिगत तमोगुण के अभिभूत या न्यून होने के साथ-साथ सत्त्व गुण की जो प्रबलता या अधिकता होती है उसी को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। यही वह (प्रत्यक्ष) प्रमाण है। इसी (विषयाकार रूप में परिणत) प्रमाणभूत बुद्धि-तत्त्व के द्वारा स्व-प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होने वाला (स्व-गृहीत विषयों

---

१. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥

२. अध्यवसायपदाभिधेयं ज्ञानं च बुद्धेरेव व्यापारो, नेन्द्रियधर्म इत्यर्थः ।
—विद्वत्तो०

का समर्पण-रूप[1]) अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है। यही प्रमा या (पुरुषगत) ज्ञान भी कहलाता है[2]।

न्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमा त्रिविध होती है। इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक प्रमा ये त्रिविध प्रमाण हैं तथा निर्विकल्पक प्रमा, सविकल्पक प्रमा एवं हानोपादान-बुद्धि—ये तीन प्रमा हैं। सांख्य के अनुसार सभी प्रमाण केवल बोध-रूप या ज्ञान-रूप हैं और यह ज्ञान-विषयाकार परिणाम के स्वरूप का होने के कारण एकमात्र बुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रिय इत्यादि का नहीं। विशेषता इतनी ही होती है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा बुद्धिगत तमोगुण का अभिभव होने के साथ ही सत्त्व-प्राबल्य होने पर बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'प्रत्यक्ष' व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न हुआ बुद्धि का (ततोऽयं पर्वतो वह्निमान्'—एतादृश) विषयाकार परिणाम 'अनुमान', तथा वाक्य से उत्पन्न हुआ बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'आगम' प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष में आया हुआ इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी न्याय का संयोग इत्यादि सन्निकर्ष नहीं, अपितु इन्द्रियों की सहकारिता-मात्र है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि बुद्धि के विषयाकार रूप में परिणत होने में इन्द्रियों का जो साहाय्य-विशेष आवश्यक होता है, वही सन्निकर्ष है। यह सहायता उतनी और वैसी ही है, जितनी और जैसी अनेक छिद्रों से युक्त घट में स्थित दीप के प्रकाश को बाहर निकलकर फैलने तथा उपस्थित पदार्थों को प्रकाशित करने में छिद्रों द्वारा प्राप्त होती है[3], अथवा जलाशयस्थ सलिल को खेत तक पहुँचने

---

१. अन्तःकरणस्यायं स्वभावो यदिन्द्रियैरुपनीतान्विषयान् स्वस्वामिने आत्मने समर्पयति, यदाहुः—गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति। अन्तः—करणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ (वि० पु०, अंश १ अ० १४, श्लोक ३५) इति विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तत्प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः।

—सांख्यतत्त्वकौमुदी

३. न चैतादृशेन्द्रियेण अध्यवसायः इत्यर्थकप्रतिविषयेणाध्यवसाय इति तृतीयासमासः कुतो नाश्रितः इति वाच्यम्' एतन्मते नानाछिद्रवटान्तरवर्तिप्रदीपप्रकाशस्य छिद्रजन्यत्वाभाववत् बुद्धिवृत्तिरूपाध्यवसायस्य इन्द्रियजन्यत्वाभावेनैतादृशसमासासम्भावात्। —सुषमाकाराः

में जो सहायता प्रणाली से प्राप्त है। जैसे घटस्थ दीप का प्रकाश छिद्र-जन्य न होने के कारण उसका कार्य या धर्म होता है, उसी प्रकार तमोगुण से आवृत बुद्धि द्वारा विषय का प्रकाश छिद्रस्थानीय इन्द्रियों का न होने के कारण उसका धर्म नहीं अपितु बुद्धि का ही धर्म है। परन्तु जैसे छिद्रों के अभाव में दीप का प्रकाश बाहर निकल कर वस्तु का प्रकाशन नहीं कर सकता, तदर्थ छिद्रों की सहायता आवश्यक है, उसी प्रकार इन्द्रियों के अभाव में समस्त अर्थों को ग्रहण करने मे समर्थ भी बुद्धि तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण बाहर निकलकर तथा विषय तक पहुँच कर उसका प्रकाशन नहीं कर सकती, उसमें इन्द्रियाँ आवश्यक हैं[1]। इन्हीं इन्द्रियों की सहायता से बुद्धि को आवृत करने वाला उसका घटस्थानीय तमोगुण अति न्यून हो जाता है और फिर बुद्धि उस तमोगुण से मानो बाहर निकलकर, वस्तु तक प्राप्त होकर एवं तदाकार-रूप में परिणत होकर उसे प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय की तरह सांख्य में ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों का प्रधान या सक्रिय नहीं अपितु गौण ही योग रहता है, प्रधान भाग तो बुद्धि का होता है[2]। अत: वह बोध जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया, बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों का नहीं। यही बात अनुमान प्रमाण कहे जाने वाले वाक्य-जन्य ज्ञान के विषय में भी सत्य है[3]।

नारायण तीर्थ ने अपनी सांख्यचन्द्रिका में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' इस समस्त पद का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है :—'प्रतिविषयो नियतविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयतेऽनेनेति प्रतिविषयाध्यवसाय इन्द्रियम् चक्षुरादीनां रूपादिविषयकत्वनियमान्नियतविषयकत्वम्।' गौडपाद ने इस पद का अर्थ इस प्रकार से किया

---

१. यथा स्वभावतश्चलनशीलमपि जलाशयस्थं सलिलं निर्गममार्गासत्त्व-रूपप्रतिबन्धकबलात् स्वयं क्षेत्रमनुपसर्पदपि छिद्रे सति तद्द्वारा निर्गत्य कुल्यात्मना क्षेत्रमुपसृत्य केदाराकारेण परिणमते, तथा स्वभावत: सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि बुद्धितत्त्वं तमसा प्रतिबद्धं सत्स्वयं विषयमनुपसर्पदपीन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना तमोनिरासे इन्द्रियप्रणालिकया विषयमुपसृत्य तदाकारेण परिणमते। योऽयं बुद्धितत्त्वस्य विषयाकारपरिणाम:, स एव अध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति प्रमाणमिति चाभिधीयते।—विद्वत्तोषिणीकारा:।

२. द्रष्टव्य सां० का०।

३. सान्त:करणा बुद्धि: सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥

है—'प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टम् प्रत्यक्ष मित्यर्थः।' गौडपाद का अर्थ वाचस्पति मिश्र के अर्थ के सदृश ही है क्योंकि दोनो के अनुसार इन्द्रिय-कृत अध्यवसाय या ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, न कि इन्द्रिय। चन्द्रिकाकार की उपर्युक्त पंक्तियों से तो उन्हें इद्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण अभिमत प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार 'आप्तश्रुति' का भी अर्थ उन्होंने 'आप्तोक्त वाक्य' किया है, वाचस्पति मिश्र की भाँति वाक्य-जन्य वाक्य-ज्ञान' नही। परन्तु प्रस्तुत कारिका की टीका के अन्तिम भाग में ''कारिकार्थस्तु—प्रतिविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयते विषयीक्रियतेऽनेनेतोन्द्रियजन्यवृत्तिरूपं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं स्वज्ञानद्वारा हेतुजन्यमन्यज्ज्ञानमनुमानम्, आप्तश्रुति· आप्तशब्देन शब्दों बोध इति'' लिखकर वे स्वयं उसका विरोध करते हुए प्रतीत होते हैं।

पूर्वोक्त त्रिविध प्रमाणों से प्रमेयों की जो प्रमा या उनका जो ज्ञान होता है, उसकी प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता भी उसी ज्ञान में निहित रहती है। कारण के गुण या दोष से उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है, जैसे कारण-व्यापार से मृत्तिका-स्थित घट का आविर्भाव। ऐसा मानने का कारण यह है कि सांख्य सत्कार्यवादी होने के कारण शश-शृङ्ग इत्यादि जैसे वस्तुतः असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानता। अतः यदि ज्ञान के अनन्तर उदित होने वाले उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य को वह उसमें निसर्गतः निहित नहीं मानेगा, तो उसकी दृष्टि में इनका उदय कभी होगा ही नहीं। इसलिए 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः' अर्थात् ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही होते हैं,—ऐसा सांख्य मानता है। इसके विपरीत न्याय परतः प्रामाण्य मानता है।

२. प्रमेय

इन प्रमाणों से जिन प्रमेयों या पदार्थों का ज्ञान होता है, वे मुख्यतः दो ही हैं—जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष। सारा जड़ जगत् इसी जड़ प्रकृति का परिणाम—सत् कार्य—है। इस प्रकृति का सर्व-प्रथम परिणाम महत् या बुद्धि है, उसका परिणाम अहङ्कार, उसके द्विविध परिणाम पञ्च तन्मात्र तथा ग्यारह इन्द्रियाँ, तथा पञ्च तन्मात्रों के भी परिणाम आकाश, वायु इत्यादि पञ्च महाभूत। स्पष्ट है कि महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—ये सात तत्त्व स्वयं दूसरों से उत्पन्न होते हैं तथा अन्य तत्त्वों को उत्पन्न भी करते हैं। किन्तु प्रकृति उत्पन्न ही करती है, स्वयं उत्पन्न नहीं होती; एवं ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच महाभूत—ये १६ तत्त्व उत्पन्न ही होते हैं, अन्य तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करते।

हाँ, आकाश, वायु इत्यादि महाभूतों से चराचरात्मक जगत् अवश्य उत्पन्न होता है, पर सांख्य के मत से वह आकाश इत्यादि से भिन्न तत्त्व नहीं है। इस प्रकार 'प्रकृति' केवल प्रकृति या कारण है, इन्द्रियों तथा महाभूतों का सोलह का गण केवल विकृति या कार्य है तथा बीच के महत् इत्यादि प्रकृति तथा विकृति दोनों ही हैं। इस प्रकार 'प्रकृति' से उसके तेईस अवान्तर तत्त्वों का विकास होने पर परिणामी तत्त्व चौबीस हो जाते हैं। 'पुरुष', जो सांख्य शास्त्र का दूसरा प्रधान तत्त्व है, अपरिणामी अर्थात् न प्रकृति, न विकृति और न दोनों ही है। इसीलिए उससे कोई अवान्तर तत्त्व विकसित या उत्पन्न नहीं होता, जिससे प्रधान एवं गौण समस्त तत्त्वों की संख्या पच्चीस (प्रकृति, उसके तेईस परिणाम-भूत अवान्तर या गौण तत्त्व, तथा पुरुष) से आगे नहीं जाती।

सांख्य शास्त्र की उपर्युक्त तत्त्व-गणना के विषय में दो प्रश्न स्वभावतः उठते हैं। एक तो यह है कि सांख्य कारण-परम्परा का अन्त प्रकृति में ही क्यों मानता है? प्रकृति के पूर्व महत् इत्यादि अथवा प्रकृति के परे किसी अन्य तत्त्व में कारण-परम्परा का अन्त मानने में क्या हानि है? दूसरा प्रश्न यह है कि जैसे पाँच तन्मात्रों से उत्पन्न होने वाले पाँच भूतों का सांख्य शास्त्र तत्त्व मानता है, उसी प्रकार पाँच भूतों से उत्पन्न होने वाले गो, वृक्ष इत्यादि, उनसे भी उत्पन्न होने वाले दुग्ध, बीज इत्यादि तथा उनसे भी उत्पन्न होने वाले दधि, अंकुर इत्यादि को भी सांख्य-शास्त्र क्यों नहीं तत्त्व मानता? प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि महत् इत्यादि तत्त्व सब के मूल कारण इसलिये नहीं हैं क्योंकि वे परिमित, परिच्छिन्न या अव्यापी हैं[1]। जो अव्यापी होता है, वह कार्य होता है और जो व्यापक होता है, वह कारण होता है; जैसे घट मिट्टी की अपेक्षा अव्यापी या परिमित होता है, पर मिट्टी घट की अपेक्षा व्यापक होती है। जब महत् इत्यादि की इस प्रकार 'कार्यता' सिद्ध है, तब उनका कारण उनकी अपेक्षा कोई अव्यक्त या सूक्ष्म ऐसी वस्तु होगी जो उन्हीं गुणों या धर्मों से युक्त हो जिनसे महत् से लेकर पाञ्चभौतिक जगत् तक सभी वस्तुयें युक्त दिखाई पड़ती हैं। ये धर्म सुख, दुःख और मोह हैं, जो क्रमशः सत्त्व, रजस् तथा तमस्

---

१. द्रष्टव्य का० १५ की सांख्यतत्त्वकौमुदी :—शक्तितः प्रवृत्तिः कारण-कार्य-विभागौ च महतः परमाव्यक्तत्वं साधयिष्यतः, कृतं ततः परणाव्यक्ते-नेत्यत आह—"परिमाणात्" इति। परिमितत्वात् अव्यापित्वादिति यावत्। विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात् घटादिवत्। घटादयो हि परिमिता मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः।

के परिणाम या स्वभाव हैं। अतः वह कारण कोई अपरिमित या अपरिच्छिन्न त्रिगुणात्मक वस्तु होगी। इसे ही सांख्य 'प्रकृति' या 'प्रधान' या 'अव्यक्त' नाम देता है। अब जहाँ तक त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' से परे किसी अव्यक्ततर तत्त्व को मूल कारण मानने की बात है; वह भी उसे मान्य नहीं है क्योंकि प्रकृति से परतर अव्यक्त मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[1] यदि कोई कहे कि परम अव्यक्त से परतर अव्यक्त में भी पूर्व की ही भाँति अनुमान प्रमाण माना जा सकता है, अतः प्रमाणाभाव-कथन निरर्थक है, तो ऐसा तो कहना उचित नहीं; क्योंकि अनुमान प्रमाण मानने में दोष यह होगा कि जहाँ महत् इत्यादि कार्य स्पष्ट ही अव्यापी या परिच्छिन्न है, वहाँ अव्यक्त (प्रकृति) अव्यापी या परिच्छिन्न नही है ? इसके अतिरिक्त परमाव्यक्त प्रकृति से भी परतर अव्यक्त की मूल कारण के रूप में कल्पना करने में अव्यवस्था होगी, जो प्रस्तुत स्थल मे प्रामाणिक न होने से दोषावह होगी।[2] यद्यपि बीज और अंकुर के पारस्परिक कारणकार्य-भाव के सम्बन्ध में अनवस्था ही दिखाई पड़ती है क्योंकि बीज और अंकुर दोनों ही एक-दूसरे के कारण और कार्य हैं; निश्चित रूप से इनमें से एक कारण और दूसरा उसका कार्य हो, ऐसा नहीं है, जैसा कि मिट्टी और उससे बने हुए घड़े मे देखा जाता है। परन्तु यह दोष नहीं है क्योंकि इसका बाध (निषेध) करके व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। अर्थात् प्रकृति-सिद्ध होने के कारण अनवस्था ही यहाँ वास्तविकता है, वस्तु-स्थिति है, व्यवस्था नहीं। परन्तु उपर्युक्त स्थल मे प्रकृति का कारण, फिर उसका भी कारण, फिर उस कारण का भी कारण और इसी प्रकार आगे भी कारण मानते जाने पर जो अनवस्था होगी, वह प्रामाणिक नही है; क्योंकि 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति तथा 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इत्यादि स्मृति प्रकृति को अज और अनादि बताकर कारण-परम्परा का उसी में अन्त मानती हैं। इसलिए उक्त स्थल में वस्तु-स्थिति के भिन्न होने के कारण अनवस्था की कल्पना दोष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति से परतर अव्यक्त की कल्पना प्रामाणिक नही है।

---

१. का० १५ की सांख्य० :—यन्महतः कारणं, तत् परमाव्यक्तं, ततः परतराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

२. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ३ की तत्त्वकौमुदी :—मूलं, चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः। विश्वस्य कार्यसंघातस्य सा मूलं, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति अनवस्था-प्रसङ्गात्। न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः।

अब जहाँ तक पृथ्वी इत्यादि कारणों के गो, घट, वृक्ष इत्यादि कार्यों के तत्त्वान्तर न होने की बात है, वह तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि ये गो, घट इत्यादि कार्य उसी प्रकार स्थूल तथा इन्द्रिय-गोचर है, जैसे पृथिवी[1]।

प्रकृति एवं गुण

पूर्वोक्त तेईस अवान्तर तत्त्वों के रूप में परिणत होने वाली सांख्य की यह प्रकृति 'अजा' अर्थात् अनादि और 'अनन्त' अर्थात् अविनाशिनी है। इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण हैं, इसीलिए यह 'त्रिगुण'[2] कहलाती है। इन सत्त्व इत्यादि तीनों की 'गुण' संज्ञा इनके 'परार्थ'[3] अर्थात् पुरुष के भोगापवर्ग के लिए होने के कारण है। जिसकी स्थिति दूसरे के लिए होती है, अपने लिए नहीं, उसका उस दूसरे की अपेक्षा अप्रधान-भाव—गुणभाव—होता है। इसी से सत्त्व इत्यादि 'गुण' कहे जाते हैं। ये तीनों गुण प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं, इसके स्वरूप ही हैं। अर्थात् प्रकृति या अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों का आधार नहीं अपितु तद्रूप या तदात्मक है; जैसा कि 'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (सां० सू० ६।३१) इत्यादि सांख्य-सूत्र तथा 'एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति' (यो० सू० २।१८ का व्यास-भाष्य) इत्यादि योग-भाष्य की पंक्ति से स्पष्ट है। इस प्रकार प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने पर भी 'प्रकृति के गुण' ऐसा भेद व्यवहार कथञ्चित् भेद-विवक्षा में होता है। इन गुणों के धर्म क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह या अज्ञान अवश्य है जिससे ये गुण तथा इनके ये धर्म या स्वभाव भी महत् अहंकार, तन्मात्र इत्यादि प्रकृति के कार्यों में भी आ जाते हैं, क्योंकि यह तो नियम ही है कि कारण के गुणों या धर्मों से ही कार्य में गुण या धर्म आते है। इस प्रकार इनसे उत्पन्न सारा जगत् ही त्रिगुणात्मक तथा सुख-दुःख मोह-स्वरूप है।

उपर्युक्त कथन से एक बात तो स्पष्ट ही है, वह यह कि सांख्य के तीनों गुण न्याय के चौबीस गुणों की भाँति द्रव्याश्रित धर्म रूप नहीं अपितु द्रव्य रूप ही हैं, एवं उनमें रहने वाले धर्म क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह हैं। प्रकृति के ये तीनों ही गुण नित्य-परिणामी है, अर्थात् प्रकृति कभी परिणाम से वियुक्त

१. द्रष्टव्य वही :—सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरत्वम्॥

२. द्रष्टव्य सां० का० ११ :—त्रिगुणमविवेकि विषय....॥

३. (i) द्रष्टव्य सां० का १२ की तत्त्व कौमुदीः—'गुणाः' इति परार्थाः।
   (ii) सां० का० १७ :—संघातपरार्थ त्वात्....॥

नहीं होती, यहाँ तक कि प्रलय-काल में भी परिणाम होता रहता है[1]। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रलय-काल में सदृश परिणाम होता है और सृष्टि-काल में विभिन्न या विषम। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार से कह सकते हैं कि जहाँ प्रलय-काल में प्रकृति स्वरूपतः परिणत होती है, उसके स्वरूप-भूत तीनों गुणों का साम्य नष्ट नहीं होता जिससे विभिन्न कार्यों की सृष्टि हो सके, वहाँ सर्ग-काल में गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके फल-स्वरूप उनके साम्य या सन्तुलन के नष्ट होने तथा विभिन्न अंशों के परस्पर संहत होने पर महत्, अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रियाँ महाभूत और यह सारा त्रिगुणात्मक जगत्—सभी क्रमशः उत्पन्न होते हैं। सांख्यकारिका १६ में ईश्वरकृष्ण ने इस द्विविध परिणाम का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2] मूल के 'त्रिगुणत' पद से प्रथम तथा 'समुदयाच्च' से द्वितीय प्रकार का परिणाम कहा गया है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न इन परिणामों के सम्बन्ध में यह उठता है कि जो गुण प्रलय-काल में सदृश या एक-विध परिणाम उत्पन्न करते हैं, वे ही सृष्टि-काल में विषम या विविध प्रपंच कैसे उत्पन्न करने लगते हैं? इसका उत्तर भी पूर्वोक्त १६वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति [परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।] में कारिकाकार ने दिया है, जिसका व्याख्यान प्रस्तुत करते हुये वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में लिखा है कि "जैसे मेघ का जल एक-रस (एक-सा) होने पर भी पृथ्वी के नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, बेल, चिरबिल्व, तिन्दुक (इमली) आँवला, प्राचीनामलक, कैथ इत्यादि का रस बन जाने पर मीठे-खट्टे, नमकीन, तिक्त, कषैले, तथा कड़वे आदि अनेक प्रकारों का हो जाता है, उसी

---

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ११ के 'प्रसवधर्मित्व' पद की तत्त्वकौमुदी:—प्रसवरूपो धर्मो यः, सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातम्। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः।

(ii) द्रष्टव्य सां० का० १६ के 'प्रवर्तते त्रिगुणतः' पदों की तत्त्वकौमुदी :—प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वाभावा हि गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते। तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते।

२. सां० का० १६ :—प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।

प्रकार (सर्ग काल में) एक ही एक गुण का आविर्भाव होने से प्राधान्य-प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं।"[1]

ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि जैसे एक ही जल अनेक भू-विकारों को प्राप्त करके अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक गुण प्रलय-काल में एक-विध होने पर भी सृष्टि-काल में अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त होने से विविध परिणाम उत्पन्न करता है। पर इससे एक बात स्पष्ट नहीं होती; वह यह कि जल के विविध परिणाम में तो भू-विकार कारण है जो पूर्वतः स्वतः सिद्ध है, पर गुणों के विविध परिणाम में कारण बनने वाला उनका अङ्गाङ्गि-भाव या गुण-प्रधान भाव तो पूर्वतः सिद्ध नहीं है क्योंकि सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय-काल में वे एक-विध थे, कोई गौण और कोई प्रधान—इस रूप में नहीं थे। फिर यह गुण-प्रधान भाव किस निमित्त से आया? इसका उत्तर १३वीं कारिका के "प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" शब्दों से प्राप्त होता है। ३१ वीं कारिका के "पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" में भी यही बात कही गई है। पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भोगोन्मुख होने पर उनके भोग एवं भोगानन्तर तत्त्वज्ञान द्वारा अपवर्ग—इन उभय प्रयोजनों की सिद्धि के लिए गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे न्यूनाधिक्य या गौण-प्रधान भाव उत्पन्न होता है, और उससे विविध परिणामों की सृष्टि होने लगती है।

पूर्वोक्त तीनों गुणों के प्रयोजन क्रमशः प्रकाशन, संचालन तथा नियंत्रण हैं और इन प्रयोजनों की सिद्धि इन गुणों के पारस्परिक अभिभव, आश्रय एवं जनन द्वारा होती है[2]। पारस्परिक अभिभव का अर्थ यह है कि प्रयोजन-विशेष से प्रकट हुए किसी एक के द्वारा दूसरे अभिभूत हो जाते हैं। जैसे 'सत्त्व' रजस् और तमस् को अभिभूत करके ही अपनी शान्त वृत्ति को प्राप्त करता है (अर्थात् सुख इत्यादि रूप से परिणत होता है)। इसी प्रकार 'रजस्' सत्त्व और तमस् को अभिभूत करके अपनी घोर अर्थात् दुःख की वृत्ति को, एवं 'तमस्' सत्त्व और

---

१. यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलतालतालीबिल्वचिरबिल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थफलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते, एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्य अप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति।—का० १६ की तत्त्वकौमुदी।

२. द्रष्टव्य सा० का० १२:—प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्ति-नियमार्थाः। अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥

रजस् को अभिभूत करके अपनी मोह या विषाद की वृत्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार गुणों की सुखादि रूप से परिणति ही इनके अन्तिम प्रयोजन या कार्य हैं, [illegible] इत्यादि इन अन्तिम प्रयोजनों की सिद्धि मे अपेक्षित होने से गौण प्रयोजन या द्वार-भूत कार्य हैं, अभिभव इत्यादि इस सिद्धि के माध्यम या प्रकार हैं। इसमे प्रयोजक या निमित्त जीव के पूर्व-कृत धर्म, अधर्म इत्यादि हैं। [illegible] धर्म रूप प्रारब्ध का भोग [illegible] होने पर सत्त्व प्रबल होकर अन्य दोनों को अभिभूत करके विषय को प्रकाशित करता हुआ सुख रूप से परिणत होगा।

'आश्रय' शब्द का प्रयोग कारिका में 'आधार' रूप मुख्य अर्थ में नहीं अपितु [illegible] रूप गौण अर्थ में हुआ है[1]। यहाँ जिसकी क्रिया जिस पर अवलम्बित या निर्भर होती है अर्थात् जो जिसका सहकारी होता है, वह [illegible] कहा गया है। जैसे सत्त्व गुण रजस् और तमस् के क्रमशः प्रवर्तन और नियन्त्रण कार्यों के आश्रय या साहाय्य से होने वाले अपने 'प्रकाशन' कार्य द्वारा उन दोनों की सहायता करता है (अन्यथा रजस् और तमस् के अभाव में सत्त्व अपने 'प्रकाशन' कार्य में प्रवृत्त ही नहीं होगा)। इसी प्रकार रजस् गुण सत्त्व और तमस् के क्रमशः प्रकाशन और नियन्त्रण कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'प्रवर्तन' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व तथा तमस्) की, एवं तमस् गुण सत्त्व और रजस् के क्रमशः प्रकाशन और प्रवर्तन कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'नियन्त्रण' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व और रजस्) की सहायता करता है।

इस पारस्परिक आश्रय द्वारा एक-दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त माठर-वृत्ति[2] तथा परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित सुवर्णसप्तति शास्त्र[3] में मिलता है। जैसे तिरछे खड़े किये गये तीन दण्डों या

---

१. यद्यप्याधाराधेयभावेन नायमर्थो घटते, तथापि यदपेक्षया यस्य क्रिया, स तस्याश्रयः। तथाहि:—सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्येतरयोः तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोः। सां० त० कौ०

२. त्रिदण्डविष्टम्भवदनी वेदितव्या इति।—माठरवृत्ति, पे० २२

३. इमे गुणाः परस्पराश्रयाः सर्वकार्यकरणसमर्थाः, यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया कुण्डिकादीन् [illegible]।—[illegible] अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा

खम्भों पर आश्रित घट किसी एक पर नहीं आश्रित रह सकता और घट को अपने-अपने ऊपर सम्हालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने-अपने कार्य में अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं।

'अन्योन्यजननवृत्तयः' का अर्थ, जैसा तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने किया है, 'एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले अर्थात् एक दूसरे के परिणाम में सहकारी' है। पर 'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' का भी 'परस्पर सहकारी' ही अर्थ है। इस प्रकार पुनरावृत्ति दोष की आपत्ति होती है। इसलिये कौमुदीकार ने 'जनन' पद का 'सदृश-रूप परिणाम' अर्थ करके यह स्पष्ट किया है कि 'परस्पर-सहकारित्व' रूप अर्थ की दृष्टि से दोनों पदों के अर्थ में अभेद होने पर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के विषय में कहे जाने से दोनो अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। गुणों का प्रथम सहकारित्व उनके अहङ्कार इत्यादि 'विरूप' परिणाम की अवस्था—सृष्टि अवस्था—के लिए कहा गया है और द्वितीय सहकारित्व 'सरूप' अर्थात् सत्त्वादि रूप से ही परिणत होने की प्रलयकालीन अवस्था के लिए कहा गया है। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है। इस सरूप परिणाम की प्रलयकालीन अवस्था का ही नाम प्रकृति है क्योंकि इस अवस्था में तीनों गुण प्रकृति-रूप से ही अवस्थित रहते हैं, सृष्टिकालीन बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि विकृति या स्व-भिन्न तत्त्व के रूप में नहीं परिणत होते। इस प्रकार जब प्रकृति तथा तीनों गुणों में तादात्म्य या अभेद हुआ, तब कारणकार्य-भाव कहाँ सिद्ध हुआ? इसलिए प्रकृति-रूप सरूप परिणाम को अहेतु और नित्य कहा है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब तीनों गुणों तथा उनके प्रकृति-रूप परिणाम में कोई भेद ही नहीं है, या दूसरे शब्दों में यों कहें कि जब तीनों गुण प्रलय-काल में किसी नये तत्त्व को उत्पन्न ही नहीं करते, तब उस अवस्था में व्यर्थ परिणाम मानने से क्या लाभ? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि तीनों गुणों में प्रकृत्यवस्था में कोई परिणाम या क्रिया नहीं मानेंगे तो प्रश्न यह उठेगा कि सृष्टि-काल में उनमें यह परिणाम-शीलता या सक्रियता कहां से आ जाएगी? क्योंकि सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि 'जो जिसमें नहीं है, वह उसमें कभी भी नहीं हो सकता एवं जो जिसमें है, उसका उसमें कभी अभाव नहीं हो सकता।' यही कारण है कि दशम कारिका में इन गुणों को 'सक्रिय' कहा गया है, जिसका व्याख्यान कौमुदीकार ने 'परिस्पन्दवत्' शब्द के द्वारा किया है।

'परस्परमिथुनवृत्तयः' का अर्थ यह है कि ये तीनों ही गुण एक-दूसरे के

सहचर या एक-दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं। इसमें देवी-भागवत प्रमाण है :—सभी गुण परस्पर युग्म-भाव से रहते हैं। सभी गुण महत्, अहङ्कार इत्यादि सभी कार्यों में व्याप्त हैं, रजस् का मिथुन सत्त्व, सत्त्व का मिथुन रजस्, तमस् के भी मिथुन सत्त्व और रजस्, एवं सत्त्व तथा रजस् का मिथुन तमस् कहा गया है[1]।

गुणों के स्वरूप, प्रयोजन तथा कार्य-प्रणाली इत्यादि के विषय में जो कुछ अभी कहा गया, वह प्रायेण सांख्यकारिका १२ की द्वितीय पंक्ति की वाचस्पति-मिश्र-कृत व्याख्या पर आधारित है। नारायण तीर्थ की सांख्यचन्द्रिका में भी सदृश ही व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। परन्तु गौडपाद-भाष्य, माठर-वृत्ति तथा जयमंगला में 'वृत्ति' पद को कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिका-कार नारायण तीर्थ की भाँति 'अभिभव' 'आश्रय' इत्यादि प्रत्येक के अन्त में न जोड़कर इन्हीं पदों की भाँति 'अन्योन्य' पद के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वित किया गया है[2]। जयमंगला के अनुसार 'वृत्ति' का अर्थ 'सुखादि रूप से परिणति' है, गौडपाद के अनुसार 'परस्पर वर्तमान रहना' है, परन्तु माठर-वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ 'कार्य' है। 'सुवर्णसप्तति' के परमार्थ-कृत चीनी-भाषानुवाद में भी यही अर्थ किया गया है। इस ग्रन्थ में सत्त्व का अपने कार्य के अतिरिक्त यदा-कदा रजस् और तमस् के भी कार्य करना, इसी प्रकार रजस् का स्व-कार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के, तथा तमस् का भी स्व-कार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के कार्य करना बड़े विशद और विस्तृत ढंग से समझाए गए हैं। इस ग्रन्थ के अय्यास्वामीशास्त्री-कृत संस्कृत-अनुवाद की पंक्तियाँ इस स्थल में द्रष्टव्य हैं :—[illegible] इमे त्रयो गुणाः अन्योऽन्यमर्थं कुर्वन्ति। यथा [illegible]। अयं सत्त्वगुण उच्यते। [illegible] रूपं भर्तुर्बन्धोश्च प्रीतिं करोति। इदं स्वार्थकरण-मुच्यते। (सैव) सर्वासां सपत्नीनां शोकं जनयति। इदमन्यार्थकरणमुच्यते। अन्येषां विषादमपि जनयति। यथा दास्यादयः सदा तत्परिचर्याखिन्ना मोचन-मलभमाना विषादाविष्टचित्ता भवन्ति। इदमुच्यते अन्यार्थजननम्। इदमेव सत्त्व-

---

१. 'अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः। रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे। उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥

२. अन्योऽन्याभिभवाः अन्योऽन्याश्रयाः अन्योऽन्यजननाः अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च। —गौडपादभाष्यम्

गुणस्य स्वपरार्थकरणमुच्यते। एवं रजः स्वपरार्थं जनयति.......। एवं तमः स्वपरार्थं जनयति।"

इस व्याख्यान से माठर-वृत्ति तथा सुवर्ण-सप्तति शास्त्र के रचयिताओं का वाचस्पति मिश्र से महान् मत-भेद ज्ञात होता है। जहाँ प्रथम दोनों आचार्यों के मत से रूप, यौवन, कुल एवं शील इत्यादि से सम्पन्न स्त्री का अपनी सपत्नियों को दुःख देना तथा अपने को न पा सकने वाले पर पुरुष को मोह या विषाद में डाल देना सामान्यतः रजस् और तमस् कार्य होने पर भी कभी-कभी सत्त्व का भी कार्य होता है जो उसका 'अन्यार्थकरण' (अर्थात् दूसरे गुणों के कार्य का सम्पादन) है, वहाँ वाचस्पति मिश्र के अनुसार क्रमशः रजस् और तमस् के ये कार्य सदा उन्हीं के द्वारा सम्पादित होते हैं, ये कभी भी सत्त्व के द्वारा सम्पादित नहीं होते। यही बात अन्य दोनों गुणों—रजस् तथा तमस्—के भी अन्यार्थकरण के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। तेरहवीं कारिका के व्याख्यान में आई हुई निम्न पंक्तियाँ इसमें प्रमाण है :—

"अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति; तेषां च परस्पराभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद्यथा—एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्या सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः? तं प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवात्।... तत्र यत् सुखहेतुः तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यत् दुःखहेतुस्तत् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः।"

तत्त्वकौमुदी की इन पंक्तियों का तात्पर्य निम्नलिखित है :—

जागतिक पदार्थों में प्राप्त होने वाले परस्पर-विरोधी सुख, दुःख तथा अज्ञान अपने-अपने प्रादुर्भाव के अनुकूल ही सुखात्मक, दुःखात्मक तथा अज्ञानात्मक कारणों का अनुमान कराते हैं। इन्हीं को १३वीं कारिका में सत्त्व, रजस् और तमस् नाम दिया गया है। इन गुणों का अनेकत्व सुखादि के परस्पर अभिभाव्य (अभिभव या तिरोभाव को प्राप्त होने वाला) तथा अभिभावक (अभिभव या तिरोभाव करने वाला) होने से है। अर्थात् चूँकि कभी सुख उत्कृष्ट होकर अन्य दोनों का तिरोभाव करता है, कभी दुःख, और कभी अज्ञान, इसलिये इनके कारण एक नहीं हो सकते; क्योंकि यदि एक ही गुण सुख, दुःख तथा मोह का

कारण मान लिया जाय तो प्रत्येक वस्तु एक ही समय में एक ही व्यक्ति को सुखदुःखमोहात्मक अनुभूत होगी। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इसके विपरीत अनेक होने पर इन सत्त्वादि गुणों के उद्भूत या उत्कृष्ट होने के लिए व्यक्ति के धर्म और अधर्म की अपेक्षा रहने से व्यक्ति और वस्तु दोनों में ही कभी सत्त्व, कभी रजस् और कभी तमस् ही उद्भूत होगा। इस प्रकार वस्तु-विशेष व्यक्ति-विशेष को एक समय में एक ही प्रकार की—सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक लगेगी, सर्वात्मक नहीं। जैसे रूप, यौवन, कुल, शील से सम्पन्न वही स्त्री अपने पति को सुख देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का सुखात्मक सत्त्व-रूप ही प्रकट होता है। वही स्त्री सौतों को दुःख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका दुःखात्मक रजो-रूप ही प्रकट होता है। इसी प्रकार उसे न पा सकने वाले पर पुरुष को मूढ बना देती है क्योंकि उनके प्रति उस स्त्री का मोहात्मक तमोरूप ही प्रकट होता है।........ उपर्युक्त दृष्टान्त में जो पति के सुख का कारण है, वह कान्ता-काय-गत सुखात्मक सत्त्व गुण है जो पति द्वारा किये गये धर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उसके सुख में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार जो सपत्नी के दुःख का कारण है वह कान्ता-काय-गत दुःखात्मक रजो गुण है जो सपत्नी द्वारा किये गये अधर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उसके दुःख में परिणत हो जाता है। एवं जो उस स्त्री को प्राप्त न कर सकने वाले पर पुरुष के मोह का कारण है, वह कान्ता-काय-गत मोहात्मक तमो गुण है जो पुरुष द्वारा किये गए अधर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उनके मोह या विषाद में परिणत हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त मत ही कारिकानुसारी होने के कारण संगत एवं उपयुक्त है।[1]

---

१. तत्त्वकौमुदीकार ने यह सिद्धान्त-प्रतिपादन सांख्य-मत के अनुरोध से किया है। वस्तुतः उनका अपना मत (वेदान्त मत) इससे भिन्न है। उसका संक्षेप में कथन उन्होंने ब्रह्मसूत्र २।२।१ के शांकर-भाष्य की भामती में इस प्रकार किया है—यदि पुनः एते एव सुखदुःखमोहस्वभावा भवेयुस्ततः स्वरूपत्वाद्धेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। नहि चन्दनः कदाचिदचन्दनः। तथा निदाघेऽपि कुङ्कुमपङ्कः सुखः भवेत्। नह्यसौ कदाचिदकुङ्कुमपङ्क इति। एवं कण्टकः क्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्। नह्यसौ कांश्चित् प्रत्येव कण्टक इति। तस्मादसुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुङ्कुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्'। इसके अनुसार चन्दन, कुङ्कुम इत्यादि जागतिक भोग-पदार्थ स्वतः सुख-दुःख-मोहात्मक नहीं हैं अपितु जाति, काल, अवस्था इत्यादि के अनुरोध से वे वैसे हो जाते हैं।

४. सृष्टि एवं उसका प्रयोजन

प्रमेयों के विवेचन के आरम्भ में कहा जा चुका है कि सांख्य के प्रमेय या पदार्थ मुख्यतः दो ही हैं, एक तो जड प्रकृति और दूसरा चेतन पुरुष; और सारा जड जगत् इसी जड प्रकृति का परिणाम है और इसी परिणाम का नाम 'सर्ग' या सृष्टि है। प्रकृति के एक और परिणाम की भी चर्चा पहले 'प्रकृति और उसके गुण' प्रकरण में की जा चुकी है। वह परिणाम त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रकृति रूप परिणाम ही है। इसे ही सदृश परिणाम भी कहा गया है जो प्रलयकाल में होता रहता है। इस परिणाम को मानने का कारण भी वहाँ स्पष्ट किया जा चुका है। इस सदृश परिणाम में प्रकृति के गुणों का पारस्परिक साम्य नष्ट नहीं होता, इसी से कोई अभिनव सृष्टि नहीं होती। परन्तु सृष्टि-काल में गुणों में क्षोभ होने से, साम्य नष्ट होता है, वैषम्य उत्पन्न होता है, एवं वैषम्य या न्यूनाधिक्य को प्राप्त हुए गुणों के विविध मिश्रण से विविध सृष्टि होने लगती है। यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि पूर्वतः साम्य-प्राप्त गुणों में वैषम्य या न्यूनाधिक्य क्यों और कैसे आ जाता है? 'क्यों' का उत्तर, जैसा पहले कहा जा चुका है, तेरहवीं कारिका के 'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' तथा ३१ वीं कारिका के 'पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्' अंशों में दिया गया है। इनका भाव यह है कि चूँकि पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भोग तथा भोगान्तर तत्त्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिए विविध सृष्टि अपेक्षित है और इस विविध सृष्टि के लिये गुणों में वैविध्य या वैषम्य होना आवश्यक है, अतः गुणों में क्षोभ तथा उसके द्वारा वैषम्य या न्यूनाधिक्य उत्पन्न होता है। 'कैसे' का उत्तर कारिकाकार ने 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥'—इस २१ वीं कारिका में दिया है। इसका भाव यह है कि प्रकृति के दर्शन द्वारा पुरुष की कैवल्य-सिद्धि के लिए प्रकृति और पुरुष का 'संयोग' होता है, जिससे सृष्टि होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए प्रकृति और पुरुष का परस्पर संयोग होता है, और संयोग से प्रकृति के गुणों में क्षोभ होने से वैषम्य उत्पन्न होने पर विविध सृष्टि होती है। विज्ञानभिक्षु का 'क्षोभ से संयोग और उससे सृष्टि' का सिद्धान्त ठीक नहीं लगता।[1] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भोग एवं अपवर्ग के लिए अपेक्षित संयोग भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। भोग के लिए अपेक्षित संयोग का कारण अनादि

---

१. द्रष्टव्य सां० सूत्र ५।१०१ का विज्ञानभिक्षु-कृत भाष्य।

अविद्या है, जैसा कि "तस्य हेतुरविद्या" इस योग-सूत्र से स्पष्ट है। यह संयोग तब तक बना रहेगा जब तक इससे केवल भोग सम्पन्न होता रहेगा। इस अनादि संयोग के अन्त के लिए कैवल्य अपेक्षित है, जिसका कारण है प्रकृति और पुरुष का विवेक अर्थात् पुरुष का प्रकृति के स्वरूप को देखकर अपने को उससे विविक्त, अन्य या भिन्न समझ लेना। भोग के लिए अनादि संयोग होने पर भी कैवल्यानुभूति के लिए पुनः संयोग होता है। जैसा कि २० वीं कारिका के व्याख्यान में कौमुदीकार ने स्वयं भी कहा है—'अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यत इति युक्तम्।' इसका तात्पर्य यह है कि भोग और अपवर्ग के लिए होने वाले संयोग एक नहीं, भिन्न हैं। संयोग की तो अनादि परम्परा है क्योंकि उसकी कारण भूत अविद्या अनादि है। उसमें कोई संयोग-परम्परा भोग में हेतु है तो कोई दूसरी कैवल्य में।

यह सृष्टि, जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, प्रकृति से महत्, उससे अहंकार, अहंकार से एक ओर तो एकादश इन्द्रियां और दूसरी ओर पाँच तन्मात्र तथा तन्मात्रों से पृथिवी, जल इत्यादि पाँच स्थूलभूत—इस क्रम से होती है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि एक ही अहंकार से प्रकाशक इन्द्रियाँ तथा अप्रकाशक रूप, स्पर्श, शब्द इत्यादि तन्मात्र कैसे उत्पन्न होते हैं? एक ही कारण से दो पृथक् स्वभाव वाले कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? इसका उत्तर आगे के [illegible] के अंतिम भाग में आयेगा। अतः वहीं द्रष्टव्य है।

सांख्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति

विभिन्न भारतीय दर्शनों में इन्द्रियों की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से बताई गई है। इस सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र की अपनी विशिष्ट प्रणाली है। पहली बात जो इसके सम्बन्ध में बताने की है वह यह है कि जहाँ न्याय तथा वेदान्त में इन्द्रियाँ भौतिक हैं, वहाँ सांख्य में वे आहंकारिक—अहंकार से उत्पन्न—मानी गई हैं। ईश्वरकृष्ण ने 'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्' इत्यादि पच्चीसवीं कारिका में इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से बताई है। 'सात्त्विकमेकादशकम् ..' इत्यादि (सां सू० २।१८) मे भी इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से कही गई है। पुराणों में इन्द्रियाँ कहीं तो आहंकारिक और कहीं भौतिक कही गई हैं। "वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा। महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणात्ततो वैकारिकादभूत्॥ वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः। तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च॥ तामसो भूत-

सूक्ष्मादिर्यतः खं [illegible] ॥" इत्यादि पौराणिक वचनों में सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव और मन, राजस अहंकार से दश इन्द्रियाँ, तथा तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। इसी का अनुसरण करते हुए सांख्य-सूत्रों के भाष्यकार विज्ञान भिक्षु ने अपने सांख्य-प्रवचन-भाष्य में ऊपर उद्धृत 'सात्त्विकमेकादशकम्' इत्यादि सूत्र का तदनुकूल अर्थ किया है। एवं सांख्य-कारिकाओं के अपने व्याख्यान में भी २५वीं कारिका पर व्याख्यान लिखते हुए "सात्त्विक एकादशकः इत्यनेन मनो ग्राह्यं, तैजासादुभयमित्युभयपदेन च द्विविधमिन्द्रियं ग्राह्यम्[1]।" ऐसा लिखा है। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान भिक्षु के मतानुसार केवल ग्यारहवीं इन्द्रिय मन ही सात्त्विक है, अन्य दसों इन्द्रियाँ आहंकारिक होती हुई भी राजस हैं, सात्त्विक नहीं। सांख्य-सिद्धान्त की दृष्टि से विज्ञानभिक्षु का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृतात् सात्त्विकाहंकारात् प्रवर्तते, भूतादेस्त्वहंकारात् तामसात् तान्मात्रो गणः प्रवर्तते।.......तैजसात् राजसादुभयं गणद्वयं भवति। यद्यपि रजसो कार्यान्तरमस्ति, तथापि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति।" इत्यादि पंक्तियाँ, जो उन्होंने २५ वीं कारिका पर व्याख्यान रूप में लिखी हैं, उचित एवं संगत प्रतीत होती हैं। २६ वीं कारिका पर भी व्याख्यान आरम्भ करते हुए उन्होंने इन्द्रियों को सात्त्विक अहंकार से ही उत्पन्न माना है—'सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्'।

जैसा अभी ऊपर प्रदर्शित किया गया है, वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रतिपादित मत ही सांख्य-शास्त्र का सर्वमान्य मत प्रतीत होता है। यदि इस मत के विरुद्ध कोई यह शङ्का करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेन्द्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करतीं: उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही भाँति विषयों को प्रकाशित करना चाहिए, तो ऐसी ही शंका तो विज्ञानभिक्षु के भी मत के सम्बन्ध में होगी; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ सात्त्विक नहीं है? पूर्व मत के विरुद्ध उठी हुई शङ्का का तो समाधान भी है और वह यह कि चूँकि उत्कृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहंकार से मन, मध्यम-सत्त्व-प्रधान अहंकार से बुद्धीन्द्रियाँ

---

१. श्री बालराम उदासीन द्वारा का० २५ की विद्वत्तोषिणी में उद्धृत।

तथा निकृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, अतएव जहाँ मन सर्वाधिक विषय-प्रकाशक है, वहाँ बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हुई भी मन की तरह नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियाँ तो प्रकाश करती ही नहीं, तथापि सात्त्विक होने से ही वे भी लघु होने के कारण क्षिप्रकारिणी हैं, अन्यथा ऐसी न होतीं; परन्तु द्वितीय मत के विरुद्ध उठी हुई शंका का तो कोई भी परिहार नहीं दिखाई देता।

अब जो नैयायिक इत्यादि दार्शनिक इन्द्रियों को भौतिक अर्थात् आकाश इत्यादि भूतों से क्रमशः उत्पन्न मानते हैं और उसमें 'चक्षुरिन्द्रियं तैजसं रूपादिषु पञ्चसु रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् दीपवत्', 'त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् [illegible]', 'रसनं जलीयं रूपादिषु पञ्चसु रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् [illegible]' इत्यादि अनुमान प्रमाण देते हैं, वह सर्वथा भ्रमात्मक है; क्योंकि विचार करने पर इनके विरुद्ध जो बात आपाततः मन में आती है, वह यह है कि यदि ये इन्द्रियाँ प्रकाशक सात्त्विक अहङ्कार से न उत्पन्न होकर अप्रकाशक आकाश, वायु आदि पाँच भूतों से पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुईं, तो वे प्रकाशक कैसे हुईं? आकाश इत्यादि की भाँति इन्हें भी प्रकाश्य होना चाहिये, प्रकाशक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि उपर्युक्त प्रकार के अनुमानों में नैयायिक जो यह हेतु देते हैं कि चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ आकाश, वायु आदि भूतों के शब्द स्पर्श आदि विशेष गुणों की उपलब्धि में पृथक्-पृथक् करण हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह दीप इत्यादि उदाहरणों में प्राप्त या उपस्थित नहीं है। जैसे दीप ही को लेकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दीप 'रूप' के प्रत्यक्ष में करण नहीं है, क्योंकि करण तो वह है जिसके होने पर कार्य अवश्य हो; रूप के प्रत्यक्ष में सन्निकृष्ट चक्षुरिन्द्रिय ही करण है, दीप नहीं। अन्यथा चक्षुरिन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव में भी दीप से रूप का प्रत्यक्ष होता। जब उदाहरण ही असिद्ध है, तब अनुमान कहाँ से सिद्ध होगा?

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो चुका है कि उत्कृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से मन, मध्यम-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा निकृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। यही अहङ्कार जब तमः प्रधान होता है, तब इससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच तन्मात्र या सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं जिनसे क्रमशः आकाश, वायु, तेजस्, जल तथा पृथ्वी महाभूत उत्पन्न होते हैं। कारण के तमः प्रधान होने से ही ये भूत इत्यादि कार्य भी

तमोगुणी—अप्रकाशक अर्थात् दूसरों का प्रकाश न करने वाले, अपितु प्रकाश्य अर्थात् दूसरे (इन्द्रियादि) से स्वयं प्रकाशित होने वाले—होते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् के न्यूनाधिक्य-भाव से विविधता को प्राप्त हुए अहङ्कार से विविध तत्त्वों—मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्रों—की सृष्टि होती है।

५. बाह्यार्थवाद

मूलतः प्रकृति के ही परिणाम या वास्तविक कार्य होने के कारण ये तन्मात्र, महाभूत इत्यादि, तथा इन महाभूतों के भी विकार-भूत ये सारे जागतिक पदार्थ भी प्रकृति की ही भाँति सत्य हैं, वास्तविक हैं। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि योग की ही भाँति सांख्य को भी बाह्य पदार्थों की सत्ता मानसिक व्यापार या चित्त-वृत्ति से पृथक् स्वतन्त्र रूप से मान्य है। कारिकाकार ने ११ वीं कारिका में 'विषयः' और 'सामान्यम्' शब्दों द्वारा तथा सूत्रकार ने 'न विज्ञानमात्रं, बाह्यप्रतीतेः' [सां० सू० १।४२] के द्वारा यही अभिप्राय प्रकट किया है। अतः विज्ञानवादी बौद्धों से सांख्य का स्पष्ट मतभेद है। सांख्य विज्ञानवादी नहीं, वस्तुवादी या विषयवादी है। जैसे सूक्ष्म अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार तथा मन प्रकृति के परिणाम हैं, वैसे ही स्थूल आकाश इत्यादि पंच भूत, तथा उनका भी विशिष्ट परिणाम यह पाञ्चभौतिक जगत् भी प्रकृति के परिणाम हैं। अतः जैसे अन्तःकरण का परिणाम 'ज्ञान' सत् है, वैसे ही ज्ञान के विषय बनने वाले जगत् के स्थूल पदार्थ भी सत् हैं।

बाह्यार्थवाद का उपर्युक्त प्रतिपादन सांख्य के प्रसिद्ध सत्कार्यवाद पर आधारित या आश्रित है। अर्थात् बाह्यार्थवाद सत्कार्यवाद का ही न्यायोचित निष्कर्ष है, इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर सामञ्जस्य है, विरोध नहीं। जिन्हें सांख्य का सत्कार्य-वाद मान्य होगा, उन्हें उसका बाह्यार्थवाद भी मान्य होगा। जिन्हें उसका सत्कार्यवाद सिद्धान्ततः मान्य नहीं है, अथवा मान्य होने पर भी जो उसे बाह्यार्थवाद के लिये पर्याप्त हेतु नहीं मानते, उनके लिए सांख्यकारिकाकार ने ग्यारहवीं कारिका के 'विषय' एवं 'सामान्य' शब्दों द्वारा तर्क उपस्थित किया है। 'विषय' का अर्थ है—ग्राह्य अर्थात् विज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करने योग्य, एवं 'सामान्य' का अर्थ है—एक ही समय में अनेक पुरुषों द्वारा ग्राह्य। इसका तात्पर्य यह है कि यदि जगत्

के पदार्थ (शब्द, घट, पट इत्यादि) विज्ञान के ही रूप होते तो जैसे 'विज्ञान मानसिक व्यापार होने के कारण [illegible] है, वैसे ही ये पदार्थ भी व्यक्तिगत होते; अर्थात् जैसे दूसरे की बुद्धि के प्रत्यक्ष न होने के कारण एक का विज्ञान दूसरे को अज्ञात या अप्रत्यक्ष रहता है, वैसे ही शब्दादि पदार्थ भी जिस व्यक्ति के विज्ञान के रूप होते, उसी को प्रत्यक्ष होते। परन्तु चूँकि उनका [illegible] सर्वसामान्य [illegible] होता है, अतः ये विज्ञान के रूप नहीं अपितु उससे पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ऐसा मानने पर ही नर्तकी के एक ही कटाक्ष (जो शब्द इत्यादि की तरह ही व्यक्त पदार्थ है) का एक साथ ही अनेक पुरुषों को प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञान) होना सम्भव है, अन्यथा ऐसा नहीं होना चाहिए।

सांख्यों के इस तर्क के विपरीत [illegible] बौद्धों का कथन है कि स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी स्वप्न-द्रष्टा पुरुष का विज्ञान (बुद्धि) ही घट पट, सर्प इत्यादि अनेक ग्राह्य विषयों का रूप धारण करके स्वयं ही उनका ग्राहक या ज्ञाता बनता है। अथवा जैसे [illegible] में भी बाह्य [illegible] स्थिति के अभाव में सूर्य-मरीचियों में जल, शुक्ति में रजत (चाँदी) अथवा रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जागरण-काल में भी प्रतीत होने वाले घट, पट, हस्ती आदि अन्य पदार्थ भी विज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं, उसके बाहर उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि कोई यह शंका करे कि जब सभी पदार्थ एकमात्र विज्ञान के ही रूप हैं तो विज्ञान के एक होने पर भी नील, पीत इत्यादि रूप से पदार्थ-वैचित्र्य का आभास क्यों होता है, तो इसके उत्तर में विज्ञानवादियों का यह कहना है कि विज्ञान-गत यह वैचित्र्य व्यक्ति के वासना-गत वैचित्र्य के कारण है। स्वप्न में भी तो स्वप्न-द्रष्टा का ही विज्ञान घट, पट, हस्ती आदि विचित्र रूपों में प्रतीत होता है, वहाँ तो कोई बाह्य पदार्थ नहीं रहता। इसलिये जैसे स्वप्न-कालीन विज्ञान-वैचित्र्य पदार्थ-वैचित्र्य पर नहीं अपितु वासना-वैचित्र्य पर आश्रित होता है, उसी प्रकार जागरणकालीन पदार्थ-वैचित्र्य भी विज्ञान-वैचित्र्य के कारण होता है। यदि पूँछा जाय कि विज्ञान-वैचित्र्य ही क्यों होता है तो उसका कारण विज्ञानवादी व्यक्तिगत वासना-वैचित्र्य बताते हैं। यह वासना-वैचित्र्य भी अनादि अविद्या के कारण है।

ज्ञान और बाह्य वस्तुओं का अभेद-साधक एक हेतु विज्ञानवादी यह भी देते हैं कि जिस वस्तु की जिसके साथ नियत रूप से प्राप्ति होती है, वह उससे भिन्न नहीं होती; जैसे एक चन्द्र के साथ नियत रूप से प्राप्त होने वाला द्वितीय चन्द्र

उससे भिन्न नहीं होता है। इसी प्रकार ज्ञान के साथ नियत रूप से प्राप्त होने के कारण वस्तु उस ज्ञान से भिन्न नहीं है। "सर्वदर्शनसंग्रह" की "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्ति[illegible] ॥" कारिका में यही बात कही गई है। इसका तात्पर्य यह है कि नील वस्तु, और तद्विषयक 'यह नीला है' यह ज्ञान—दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। क्योंकि दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं। चूँकि कोई भी वस्तु स्व-विषयक ज्ञान से पृथक् नहीं देखी जाती, इसलिये वह उस ज्ञान से भिन्न नहीं अपितु तद्रूप ही है; यदि दोनों भिन्न होते तो पृथक्-पृथक् प्राप्त होते, एक साथ न प्राप्त होते। यदि कोई कहे कि यदि वस्तु और स्व-विषयक ज्ञान में भेद नहीं है, वस्तु वस्तुतः स्व-ज्ञान रूप ही है तो दोनों में 'वस्तु' एवं 'वस्तु का ज्ञान' इस प्रकार का भेद क्यों और कैसे दिखाई पड़ता है, तो इसका उत्तर विज्ञानवादी बौद्ध यह देता है कि यह भेद मिथ्या या भ्रान्तिमूलक है, ठीक वैसे ही जैसे चन्द्र के एक ही होने पर भी उसमें दो चन्द्रों का दिखाई पड़ना।

बाह्यार्थवाद के विरुद्ध विज्ञानवाद का समर्थन करने वाले ये दोनों ही तर्क विचार करने पर असत् प्रतीत होते हैं, और बालू की भींत की भाँति ढहते दिखाई पड़ते हैं। 'जैसे स्वप्न-कालीन घट, पट, मठ, हस्ती इत्यादि पदार्थ जागरण-काल में न तो प्रतीत होते हैं एवं न रहते ही हैं, केवल स्वप्न-काल का तत्तद्विषयक ज्ञान ही रहता है [क्योंकि उसके (सत्य) न होने पर तो जागरण-काल में होने वाला उसका स्मरण भी न होता], उसी प्रकार जागरण-काल के पदार्थ भी वस्तुतः नहीं हैं अर्थात् अपने-अपने ज्ञान से पृथक् प्रसिद्ध नहीं है,' विज्ञानवादियों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसका आधार स्वप्न और जागरण का पारस्परिक सादृश्य है जो सर्वथा असिद्ध है। उल्टे दोनों का वैषम्य या वैधर्म्य ही प्रत्यक्ष-सिद्ध है। स्वप्न-काल के बोध का बाध या प्रत्याख्यान अवान्तर (जागरण) काल में प्रत्यक्ष से सिद्ध है, परन्तु जागरण काल के बोध का बाध प्रत्यक्ष या किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं है। कृष्ण द्वैपायन व्यास ने 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्रह्मसूत्र २।२।२) के द्वारा यही भाव प्रकट किया है। जब दृष्टान्त (स्वप्न) और दार्ष्टान्तिक (जागरण) में साधर्म्य के स्थान में वैधर्म्य है, तब दृष्टान्त-गत धर्म अर्थात् स्वाप्निक पदार्थों की अवास्तविकता का दार्ष्टान्तिक अर्थात् जागरण-काल के पदार्थों में अनुमान कैसे हो सकता है? दृष्टान्त असिद्ध होने पर भी भला कहीं अनुमान सिद्ध होता है?

विज्ञानवादियों का दूसरा तर्क भी विचार करने पर इसी प्रकार असत् या

दूषित सिद्ध होता है। निःसन्देह पदार्थ और उसके ज्ञान के विषय में तथाकथित सहोपलब्धि का नियम, जिससे वे दोनों को एक सिद्ध करते हैं, सूक्ष्म विचार की कसौटी पर कसे जाने पर खरा नहीं उतरता। यह सहोपलम्भ का नियम आखिर है क्या ? यदि इसका अर्थ '[illegible]' अर्थात् पदार्थ और उसके ज्ञान का साथ-साथ पाया जाना है, तब तो इसके बल पर दोनों की एकता क्या ही सिद्ध होगी ? हाँ, इसके उल्टे दोनों की भिन्नता तो अवश्य ही सिद्ध होगी; क्योंकि अभेद-विरुद्ध भेद से व्याप्त होने के कारण यह 'सहोपलम्भ' हेतु विरुद्ध हेतु है, अतः 'विरुद्ध' हेत्वाभास है, और हेत्वाभास से प्राप्त होने वाला ज्ञान 'प्रमा' नहीं, 'प्रमाभास' होगा। यही बात इस प्रकार से कही जा सकती है कि 'सहोपलम्भ' और 'अभेद' वस्तुतः एक-दूसरे के विरोधी हैं, दो भिन्न वस्तुओं का ही सहोपलम्भ हो सकता है. सहोपलम्भ या साहचर्य के लिए 'भेद' अर्थात् कम से कम दो वस्तुओं का होना अनिवार्य है, अभेद में अर्थात् वस्तु के एक ही होने पर किसका किससे साहचर्य होगा, अपना अपने ही से तो साहचर्य होता नही। यदि 'सहोपलम्भ' हेतु का विरुद्धत्व दोष मिटाने के लिए उसका अर्थ 'एकोपलम्भ' किया जाय तो यह भी असंगत ही है; क्योंकि 'सह' का अर्थ 'एक' तो होता ही नही। अच्छा यदि इसका अर्थ 'एक' मान भी लें तो भी पूर्व असंगति ज्यों की त्यों बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान के विषय बनने वाले पदार्थ या वस्तु के बाह्य होने, तथा उस ज्ञान के आन्तरिक होने के कारण दोनों की एक रूप से उपलब्धि असम्भव है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सांख्य शास्त्र न्याय, वैशेषिक, योग इत्यादि की भाँति ही बाह्यार्थवादी है। वैसे तो वेदान्त भी विज्ञानवादी नहीं, बाह्यार्थवादी ही है, जैसा कि ऊपर 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' इत्यादि ब्रह्मसूत्र के उद्धरण से स्पष्ट है, पर शाङ्कर वेदान्त बाह्य अर्थों या विषयों को न्याय, सांख्य, योग इत्यादि की भाँति 'वस्तुतः' सत् नही मानता, परमार्थतः सत्य नहीं कहता, अपितु 'व्यवहारतः' ही सत्य मानता है। उसकी यह मान्यता उसकी परमार्थ-विषयक मान्यता "अद्वैत" के सर्वथा अनुसार ही है।

६. स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर

पूर्व जिन तन्मात्रों की चर्चा कर आये हैं, उनकी सांख्य शास्त्र में दूसरी संज्ञा 'अविशेष' है। एवं उनसे उत्पन्न होने वाले महाभूतों की संज्ञा 'विशेष' है[1]।

---

१. द्रष्टव्य कारिका ३८ :—तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥

किस वैशिष्ट्य के कारण ये महाभूत 'विशेष' कहलाते हैं, जिनके अभाव के कारण तन्मात्र 'अविशेष' कहे जाते हैं ? इसका उत्तर ईश्वरकृष्ण ने का० ३८ के अन्तिम शब्दों में दिया है जिसका भाव यह है कि चूँकि आकाश, वायु इत्यादि स्थूल विषयों में कुछ सत्त्व-प्रधान होने के कारण शान्त सुखात्मक, प्रकाश-रूप और लघु, कुछ रजः-प्रधान होने के कारण घोर, दुःखात्मक और चंचल, तथा कुछ तमः-प्रधान होने के कारण मोहात्मक, विषाद-रूप और गुरु (भारी) होते हैं, इसलिए ये परस्पर पृथक्-पृथक् रूप से अनुभव किये जाने के कारण 'विशेष' और 'स्थूल' कहलाते हैं। इसके विपरीत तन्मात्र हम लोगों (प्राकृत जनों) के द्वारा पृथक्-पृथक् अनुभूत न होने के कारण 'अविशेष' और 'सूक्ष्म' कहलाते हैं।

विशेष या स्थूल विषयों के तीन प्रकार या अवान्तर भेद होते हैं। ये सूक्ष्म शरीर, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, तथा पञ्च महाभूत हैं। इनमें स्थूल शरीर, जिसके चर्म (त्वक्) रक्त तथा मांस माता से तथा स्नायु (नसें), अस्थि एवं मज्जा पिता से उत्पन्न होते हैं, अनित्य या नश्वर होते हैं, क्योंकि गाड़े जाने पर वे पृथ्वी-भाव को प्राप्त हो जाते हैं, जलाये जाने पर भस्म बन जाते हैं, एवं व्याघ्र इत्यादि से खा लिये जाने पर पच कर मल बन जाते है। इनके विपरीत सूक्ष्म शरीर नियत अर्थात् नष्ट न होने वाले होते हैं[1]।

सूक्ष्म शरीर की दूसरी संज्ञा 'लिङ्ग' शरीर भी है। साधना की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व सांख्य शास्त्र में ही नहीं, अन्यत्र भी है। अतः इसके स्वरूप पर थोड़ा विस्तार के साथ विचार कर लेना उचित होगा। सांख्य-कारिका में इसे महत् (बुद्धि), अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्र—इन अठारह तत्त्वों का बना हुआ, सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, नियत, भोग-रहित, धर्माधर्म भावों के संस्कारों से युक्त एवं संसरण करने वाला बताया है।[2] वेदान्त में भी सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर की कल्पना है, पर सांख्यशास्त्र-गत सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर से वेदान्तीय सूक्ष्म शरीर थोड़ा भिन्न है। जहाँ सांख्य में सूक्ष्म शरीर अठारह तत्त्वों से बना माना जाता है, वहाँ वेदान्त में उसे सत्रह तत्त्वों से ही बना माना जाता है। वेदान्त अहङ्कार का अन्तर्भाव मन इन्द्रिय में कर लेता

---

१. द्रष्टव्य का० ३९ :—सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः। सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥

२. द्रष्टव्य सां० का० ४० :—पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥

है। इसके अतिरिक्त एक भेद और है, वह यह है कि सांख्य के पाँच तन्मात्रों के स्थान में वेदान्त पाँच प्राण मानता है। पर सांख्य और वेदान्त, दोनों ही सूक्ष्म शरीर से प्रायः एक-से प्रयोजन की सिद्धि मानते हैं। यह प्रयोजन पुरुष का संसरण है। इसी सूक्ष्म शरीर के द्वारा पुरुष (आत्मा) जगत् में विभिन्न योनियो में संसरण करता रहता है। यह कभी मनुष्य बनता है तो कभी पशु, और कभी वनस्पति इत्यादि। इस प्रकार परशुराम, युधिष्ठिर, उदयन आदि अनेक पुरुषों का रूप धारण करने वाले नट[1] की भाँति यह सूक्ष्म शरीर अनेक योनियों में उत्पन्न होकर अनेक शरीर धारण करता है।

वस्तुतः तो यह सूक्ष्म शरीर ही विभिन्न योनियों में संसरण करता है किन्तु अनादि अविद्या के कारण पुरुष या आत्मा उसके साथ अपना तादात्म्य या अभेद ग्रहण करने के कारण उस संसरण अर्थात् जन्म-मरण को, एवं उससे होने वाले दुःख को अपना ही समझता है।[2] यही उसका बन्धन है और इसी से छुटकारा पाने के लिये सारी आध्यात्मिक साधना बताई गई है। यह छुटकारा अज्ञान के मिटने पर ही मिल सकता है, अथवा इसे और अच्छे ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि अज्ञान से मुक्ति ही जन्म-मरण से मुक्ति है, दुःखों से मुक्ति है। अज्ञान से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान ही हो सकता है। अतः सारी आध्यात्मिक साधना वस्तुतः ज्ञान ही के लिये की गई साधना है। यह ज्ञान वस्तुत क्या है ? और इसकी साधना क्या है ? ज्ञान है—'नास्ति, न मैं, नाऽहम्' की अनुभूति और इसकी साधना है—'गुरु की सहायता से अध्यात्म-शास्त्रों से तत्त्व अर्थात् स्वरूप या आत्मा के विषय में 'नास्ति, न मे, नाऽहम्' (अर्थात् मैं अकर्त्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी आत्मा हूँ—इस सत्य) को जानकर श्रद्धा-पूर्वक दीर्घ काल तक निरन्तर भावना करते जाना, जब तक पूर्वोक्त अनुभूति न हो जाय, जब तक इस सत्य का साक्षात्कार न हो जाय।[3] चूँकि सत्य या तत्त्व के विषय में किया गया अभ्यास उसी का साक्षात्कार उत्पन्न करता है, इसी लिये यह ज्ञान 'विशुद्ध'

---

१. द्रष्टव्य सां० का० ४२ :—पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥

२. द्रष्टव्य सां० का ६२ :—तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

३. द्रष्टव्य सां० का० ६४ :—एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

अर्थात् संशय एवं विपर्यय से अमिश्रित होता है और विपर्यय या मिथ्या ज्ञान से अमिश्रित होने के कारण ही 'केवल' कहा जाता है। इसीलिये ज्ञानी को 'केवली' और ज्ञान से प्राप्त होने वाले जन्म-जरा-व्याधि-मृत्यु इत्यादि दुःखों के विनाश को 'कैवल्य' (मोक्ष) कहते हैं। एक शंका यहाँ अवश्य उठती है, वह यह है कि अविद्या तो अनादि है, अतः उससे सतत उत्पन्न होते रहने वाले मिथ्या-ज्ञान से जन्म-मरण सदा ही होते रहेंगे, उनसे कभी छुटकारा होगा ही नहीं। इसका समाधान यह है कि अविद्या-संस्कार अनादि होने पर भी सान्त है—नष्ट होने वाला है, और उसका यह अन्त या विनाश उसकी अपेक्षा अभिनव ज्ञान-संसार से भी हो जायगा। क्योंकि तत्त्वोन्मुखता बुद्धि का स्वभाव ही है, जैसा कि वेद-बाह्यों (बौद्धों) ने भी कहा है :—"मिथ्या ज्ञान (के संस्कारों) से वस्तु-स्वरूप के निर्दोष (विशुद्ध) ज्ञान का कभी भी बाध नहीं हो सकता· क्योंकि बुद्धि स्वभावतः (अप्रयास) ही तत्त्वज्ञानोन्मुखी होती है।"[1] इस अवस्था में जीव को बाँधने वाला अज्ञान लेश-मात्र भी नहीं अवशिष्ट रहता, इसी से ज्ञान को 'अपरिशेष'—'अविद्यमानः परिशेषः किञ्चिदवशिष्टं ज्ञातव्यं यस्मिन् तत्'—कहा गया है।[2]

७. कैवल्य या अपवर्ग

पूर्वोक्त ज्ञान ज्यों ही हुआ अर्थात् साधक ने ज्यों ही यह अनुभव कर लिया कि कर्त्री, भोक्त्री एवं परिणामिनी प्रकृति से अकर्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी पुरुष 'मैं' सर्वथा विविक्त—पृथक हूँ त्यों ही पुरुष प्रकृति से उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी पुरुष की ओर से उपरत हो जाती है अर्थात् उस पुरुष के प्रति अपना भोगादि व्यापार बन्द कर देती है। इस प्रकार दोनों का संयोग रहने पर भी सृष्टि—प्रकृति-व्यापार—का उस पुरुष के प्रति कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। सत्य बात यह है कि जब तक प्रकृति पुरुष में विवेक-ख्याति नहीं

---

१. "निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः। न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः" ॥
—सां का० ६४ की तत्त्वकौमुदी मे उद्धृत

२. द्रष्टव्य पूर्व उद्धृत सां० का० ६४।

३. द्रष्टव्य का० ६७ :—दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या। सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥

उत्पन्न कर पाती, तभी तक वह शब्द इत्यादि विषयों का बार-बार भोग कराती है। परन्तु एक बार विवेक-ख्याति उत्पन्न कर चुकने पर वह फिर भोग नहीं उत्पन्न करती, क्योंकि भोग तो अविवेक के कारण होता है, उसके अभाव में नहीं; जैसे बीज के अभाव में उसका कार्य अंकुर नहीं होता। प्रकृति से अपने को विविक्त या भिन्न न समझने के कारण पुरुष सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्श इत्यादि प्रकृति-परिणामों को 'ये मेरे हैं'—ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है। इसी प्रकार प्रकृति-जन्य विवेक-ज्ञान को भी वह समझता है कि 'यह मेरे लिये है'। परन्तु विवेक-विज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर अविवेक-रहित हो जाने के कारण वह न तो शब्द इत्यादि का भोग ही करता है, न प्रकृति-जन्य विवेक-ज्ञान को ही अपने लिये समझता है; और भोग एवं विवेक-ज्ञान तभी तक प्रकृति-कृत सर्ग में कारण बनते हैं, जब तक ये 'पुरुषार्थ' अर्थात् पुरुष के लिए अर्थनीय अर्थात् प्राप्तव्य विषय रहते है। ज्यों ही ये 'पुरुषार्थ' (अर्थात् प्राप्त हो जाने के कारण 'पुरुष के लिये प्राप्तव्य') नहीं रहे त्यों ही ये प्रकृति-कृत सर्ग के प्रयोजक भी नहीं रह जाते।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण विशुद्ध ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर संचित धर्माधर्म—शुभाशुभ कर्मों—का बीज-भाव या फलोत्पादकत्व नष्ट हो जाता है परन्तु 'प्रारब्ध' कर्मों—जिनसे विशिष्ट योनि वाला वर्तमान जन्म तथा इस जन्म के सुख-दुख भोग प्राप्त हुये हैं—के अवशिष्ट संस्कार भोग से ही क्षीण होंगे, ज्ञान से नहीं। अतः उनके सामर्थ्य से साधक, जो अब सिद्ध हो चुका है, वैसे ही शरीर धारण किये रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक पूर्व उत्पन्न वेग से चलती रहती है। जैसे वेग के समाप्त हो जाने पर चाक चलना बन्द कर देती है, वैसे ही अवशिष्ट प्रारब्ध-संस्कार के क्षीण हो जाने पर शरीर भी व्यापार करना बन्द कर देता है, नष्ट हो जाता है। इस विषय में ईश्वरकृष्ण की यह उक्ति सर्वथा संगत है:—"सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः॥ प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥" [सां० का० ६७, ६८]

अनुभवात्मक या साक्षात्कारात्मक ज्ञान होने से लेकर शरीर नष्ट होने तक के बीच की स्थिति 'जीवन्मुक्ति कहलाती है, एवं शरीर नष्ट होने के बाद की अनवधि एवं अनन्त स्थिति 'विदेहमुक्ति'। यही कैवल्य या अपवर्ग भी है।

इसी अपवर्ग—जन्मादि एवं उसमें होने वाले दुःख-त्रय के आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक विनाश—की सिद्धि के लिये सांख्य शास्त्र प्रवृत्त हुआ था। इस लक्ष्य की सिद्धि तक का सारा मार्ग तै कर चुकने के अनन्तर यह शास्त्र 'चरितार्थ—चरितः अनुष्ठितः अर्थः स्वप्रवृत्तिप्रयोजनं येन तत्—हो जाता है, 'समाप्त—'सम्यक् आप्तः अर्थः स्वप्रयोजनं येन तत्—हो जाता है। प्रत्येक कार्य की समाप्ति उस प्रयोजन की सिद्धि में होती है जिसे लेकर वह आरम्भ होता है, इस नियम के अनुसार दुःख-त्रय-प्रशम रूप अपवर्ग की सिद्धि के प्रयोजन से आरम्भ किये गये शास्त्र की, उस प्रयोजन की निष्पत्ति में ही 'समाप्ति'—पर्यवसान—सर्वथा स्वाभाविक है।

साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः ॥
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते
जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान् ॥१॥

अर्थ—स्वयं अनुत्पन्न होकर भी महत् इत्यादि कार्यों को उत्पन्न करने वाली, एक होकर भी रजस्सत्त्वतमोरूप त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति को हम नमस्कार करते हैं। अपने सुखादि भोगों द्वारा सेवा करती हुई उस प्रकृति का जो अनुसरण करते हैं (उसके धर्मों या गुण, क्रियादि का अपने में आरोप करते हैं,) उन बद्ध तथा जो समस्त भोग सम्पादित कर देने पर उसे अनात्म वस्तु समझ कर सदा के लिये छोड़ देते हैं, उन वस्तुतः कभी भी जन्म न लेने वाले मुक्त पुरुषों को भी नमस्कार है ॥१॥

विशेष—शिष्टानुमत श्रुत्युक्त मङ्गलाचरण की कर्त्तव्यता का पालन करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने श्वेताश्वतर श्रुति में प्रकृति तथा मुक्तामुक्त उभयविध पुरुष के विषय में कहे गए "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाम-जोऽन्यः।" इस मंत्र को प्रयोजनानुसार अंशतः परिवर्तित करके प्रस्तुत रूप मे रक्खा है। 'प्रकर्षेण व्यक्तरूपेण जायन्ते आविर्भवन्ति इति प्रजाः महदादयो विकाराः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मूल का 'प्रजा' शब्द महदादि कार्यों के लिये प्रयुक्त हुआ है। मूल के लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण शब्द अभिधा के द्वारा तद्रूपविशेष के वाचक होते हुए भी इस स्थल में लक्षणा के द्वारा रजस् सत्त्व तथा तमस् के बोधक हैं। लाक्षणिक अर्थ लेने का आधार यह है कि यद्यपि ये वर्ण इन गुणों में वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं, तथापि जैसे लोहित या रक्त वर्ण वस्त्र को रंग देता है, उसी प्रकार रजस् भी प्रवृत्ति के द्वारा मन को रंग देता है। इसी प्रकार जैसे स्वच्छ जल मल को धो देता है, उसी प्रकार सत्त्व भी ज्ञानादि द्वारा मन को विमल कर देता है, एवं जैसे कृष्ण मेघ पटल आकाशादि को ढंक देता है, उसी प्रकार तमस् भी अज्ञान या मोह के द्वारा ज्ञानादि को

ढँक देता है। यद्यपि सुख-स्वरूप होने के कारण सत्त्व की प्रधानता होने से उसी का सर्व प्रथम ग्रहण होना उचित था, तथापि रजस् के सृष्टि-प्रवर्तक होने के कारण उसका ग्रहण सर्व प्रथम एवम् तदनन्तर स्थिति-दशा में ही उत्पन्न कार्यों का प्रकाशक होने के कारण सत्त्व का ग्रहण उसके बाद, तथा प्रकाशित वस्तुओं के ही स्वरूपावरण-रूप विनाश (सांख्य-मत में वस्तु का विनाश उसका स्वरूपतः अभाव नहीं अपितु उसके स्वरूप का आवरण या तिरोधान-मात्र होता है) को उपस्थित करने के कारण तमस् का ग्रहण सब के अन्त में हुआ है।

उपर्युक्त श्लोक से सांख्य शास्त्र का यह अभिधेय या प्रतिपाद्य विषय ध्वनित होता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही कर्त्री है, भोगापवर्ग-रूप पुरुषार्थ ही उसकी प्रवृत्ति का हेतु है, पुरुष वस्तुतः उदासीन होकर भी प्रकृति के धर्म या क्रियादि को अपने में आरोपित करने के कारण कर्तृत्व, भोतृत्व इत्यादि बन्धनों में पड़ता है, और भोग-समाप्ति एवम् शास्त्रज्ञानाभ्यास से उत्पन्न (मैं प्रकृति से पृथक्, एवम् उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि गुणों से निर्लिप्त हूँ—एवंविध) विवेकख्याति या तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने असंगत्व का अनुभव करके बन्धन-विहीन 'केवली' हो जाता है।

श्वेताश्वतरश्रुत्युक्त—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥" इस मन्त्र के अनुसार देव-वन्दना की भाँति गुरु वन्दना की भी कर्तव्यता समझते हुए आचार्य साख्य-शास्त्र की गुरु-परम्परा की भी वन्दना कर रहे—

कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः ॥२॥

अर्थ—महातपस्वी कपिल, उनके शिष्य आसुरि मुनि, (उनके भी शिष्य) पञ्चशिख, तथा ईश्वरकृष्ण को प्रसन्न करने के लिये (शास्त्र ज्ञान के लिये अपेक्षित उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये) नमस्कार करते हैं।

विशेष—(i) आचार्य माठर ने सांख्य-कारिकाओं की स्वरचित वृत्ति के आरम्भ में ही 'स (आसुरिः) एवम् गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव (द्रष्टव्य माठरवृत्ति, चौखम्भा संस्कृतसिरीज नं० २९६ प्रकाशन, पे० २)—ऐसा लिख कर आसुरि मुनि की कपिलाचार्य-शिष्यता प्रतिपादित की है। भागवत के पंचमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥"

(द्रष्टव्य भागवत, प्रथमस्कंध, अ० ३, श्लोक १०)—श्लोक से भी यही बात स्पष्ट होती है। इस ग्रन्थ की ७० वीं कारिका से भी यही बात सिद्ध होती है कि कपिलाचार्य ने सर्वप्रथम यह ज्ञान आसुरि को तथा आसुरि ने पञ्चशिख को दिया था। आचार्य पञ्चशिख ने भी लिखा है—'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'। आचार्य आसुरि के शिष्य आचार्य पंचशिख थे, यह बात महाभारत से ज्ञात होती है—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः। पंचज्ञः पंचकृत् पंचगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥ (महा० पर्व १२, अ० २१८, श्लो० १२)

(ii) श्लोक के 'नमस्यामः' क्रिया-पद का कर्म होने के कारण 'कपिल' इत्यादि शब्दों में 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया होनी चाहिये परन्तु 'कपिलं प्रीणयितुम्' इस विशिष्ट अर्थ में 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' सूत्र के अनुसार चतुर्थी हुई है। इसलिये 'प्रसन्न करने के लिये' (शास्त्रज्ञान के लिये अपेक्षित उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिये)—ऐसा अनुवाद किया गया है।

[अब प्रस्तुत 'सांख्यकारिका' नामक शास्त्र की रचना का विशिष्ट प्रयोजन प्रकट करने की दृष्टि से भूमिका बाँधते हुये कहते हैं :—]

इह खलु प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयिताऽवधेयवचनो भवति प्रेक्षावतांम्। अप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् नायं लौकिको नापि परीक्षकः इति प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत। स चैषां प्रतिपित्सितोऽर्थो यो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थाय कल्पते इति प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनहेतुत्वात् तद्विषयजिज्ञासामवतारयति।

अर्थ—जगत् में उसी वक्ता या उपदेष्टा के वचन में बुद्धिमानों को श्रद्धा होती है जो उनके जिज्ञासित विषय का प्रतिपादन एवं बोध कराता है। इसके विपरीत अजिज्ञासित विषय के प्रतिपादक पुरुष को बुद्धिमान् जन—'यह व्यक्ति न व्यवहारज्ञ[1] ही है और न शास्त्रज्ञ[2] हो—ऐसा कहकर

---

१. लोके भवः सत्तावान् न विद्वद्गोष्ठ्यामुपवेष्टुमर्हतीति लौकिकः, व्यवहारज्ञः शास्त्रीयसंस्कारविधुरः नरः।—बालरामोदासीनः।

२. परि परितः सर्वतः प्रमाणैस्तर्केण च ईक्षते वस्तुतत्त्वं निश्चिनोतीति परीक्षकः शास्त्रज्ञ इति। यथोक्तं न्यायभाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिना—लोकसाम्यमनतीता लौकिकाः नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः, तद्विपरीताः परीक्षकास्तार्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति।

उन्मत्त की भाँति उसकी उपेक्षा करते हैं; और जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ होता है, वही बुद्धिमानों का ज्ञातव्य विषय होता है। चूंकि प्रारम्भ किये जाने वाले शास्त्र के विषय-भूत २५ तत्त्वों का निर्णयात्मक ज्ञान ही मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के साधन-भूत विवेक-ज्ञान का कारण या उत्पादक है, इसलिये कारिकाकार इस प्रकार के शास्त्र के विषय में जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुये कहते हैं :—

दुःखत्रयाभिघाताज्[1] जिज्ञासा तदपघातके[2] हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात् ॥१॥

अर्थ—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इस त्रिविध दुःख के प्रहार से उसको दूर करने वाले शास्त्रीय साधन या उपाय के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यदि कोई यह कहे कि दुःख-विनाश का लौकिक उपाय विद्यमान होने के कारण वह शास्त्र-जिज्ञासा व्यर्थ है, तो (उसका उत्तर यह है कि) ऐसी बात नहीं है क्यो उससे दुःख-त्रय की आनिवार्य रूप से सार्वकालिक निवृत्ति नहीं होती।

विशेष—ग्रन्थ का आरम्भ 'दुःख' शब्द से नहीं होना चाहिए क्योंकि यह अमङ्गलसूचक है और मङ्गल से आरम्भ होने वाला ग्रन्थ या शास्त्र प्रसिद्धि प्राप्त करता है तथा उसके अध्येता अभीष्ट अर्थ प्राप्त करते हैं। कहा भी गया है :—"मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्ति अध्येतारश्च मङ्गलेनाभिहितसंस्काराः शास्त्रार्थानाशु प्रतिपद्यन्ते।" इस प्रकार 'दुःख' पद से ग्रन्थ का आरम्भ अनुचित है। इस शङ्का का समाधान यह है कि यद्यपि 'दुःख' पद अमङ्गल-वाचक है, तथापि समस्त वाक्य तो दुःख प्रहाण रूप मङ्गलार्थ का ही वाचक है और समूचे वाक्यार्थ से पृथक् 'दुःख' पद के अर्थ की कोई सत्ता नहीं है। क्योंकि वस्तुतः विशिष्ट अर्थ के अवाचक पृथक्-पृथक्

---

१. न्यायमते अभिघातो नाम शब्दजनकसंयोगः, सांख्यमते तु अभिघातो नाम बन्धजनकसंयोगः। दुःखं बुद्धितत्त्वे वर्तते, आत्मापि प्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन बुद्धितत्त्वे वर्तते; तत्रात्मप्रतिबिम्बे दुःखं संक्रामति, तद्दुःखमात्मनः प्रतिकूलवेदनीयं भवति, अतः प्रतिकूलवेदनीयत्वापराभिधानः बन्धजनकसंयोगः दुःखत्रयेण सह आत्मनः सम्बन्धः।—

किरणावली पृ० १९२

२. तदभिघातके—गौड०, माठर: तदपघातके—जय०

पद निरर्थक होते हैं, समस्त पदों के परस्पर सहयोग से निकलने वाला विशिष्ट अर्थ रूप वाक्यार्थ ही सार्थक होता है—'पृथङ् निविष्टतत्त्वानां पृथगर्थाभिपातिनाम्। इन्द्रियाणां यथा कार्यमृते देहान्न लभ्यते॥ तथैव सर्वशब्दानां पृथगर्थाभिधायिनाम्। वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न लभ्यते'॥ इस प्रकार 'दुःख' पद का समूचे वाक्य से पृथक् कोई अर्थ न होने तथा समूचे वाक्य के मङ्गलार्थ-परक होने से पूर्व शंका निर्मूल सिद्ध होती है।

एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत यदि दुःखं नाम जगति न स्यात् सद् वा न जिहासितम्, जिहासितं वा अशक्यसमुच्छेदम्। अशक्यसमुच्छेदता च द्वेधा—दुःखस्य नित्यत्वात्, तदुच्छेदोपायापरिज्ञानाद् वा। शक्यसमुच्छेदत्वेऽपि च शास्त्रविषयस्य ज्ञानस्यानुपायत्वाद्वा, सुकरस्योपायान्तरस्य सद्भावाद्वा।

तत्र न तावद् दुःखं नास्ति, नाप्यजिहासितमित्युक्तम्—'दुःखत्रयाभिघातात्' इति।

अर्थ—यदि जगत् में दुःख न हो, अथवा होने पर भी उसको छोड़ने की इच्छा न हो, अथवा छोड़ने की इच्छा होने पर भी उसके नित्य होने के कारण या विनाश के उपाय के अज्ञान के कारण उसकी निवृत्ति सम्भव न हो, अथवा निवृत्ति सम्भव होने पर भी प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय—प्रकृति तथा पुरुष का विवेक-ज्ञान—उस दुःख की निवृत्ति का उपाय न हो, अथवा वैसा होने पर भी इस विवेक-ज्ञान की अपेक्षा कोई सुलभ एवं सरलतर उपाय हो तो इसके विषय में जिज्ञासा कदापि न होगी। परन्तु जगत् में दुःख है नहीं अथवा होने पर भी उसकी निवृत्ति किसी को अभीष्ट नहीं है - ऐसी बात नहीं है। इसीलिये शास्त्रकार ने कहा—'दुःखत्रयाभिघातात्।'

दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्। तत् खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्च। तत्राध्यात्मिकं द्विविधम् - शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्। मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम्। सर्वञ्चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्।

अर्थ- दुःख तीन प्रकार के हैं:—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि-

दैविक। इनमें से आध्यात्मिक[1] दुःख शारीरिक और मानसिक रूप से दो प्रकार का होता है। बात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को 'शारीरिक', तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह (अज्ञान) 'भय, ईर्ष्या (परोत्कर्षा-सहिष्णुता) विषाद (प्रिय पदार्थ के विनाश से उत्पन्न व्याकुलता) तथा सुन्दर शब्द, स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों की अप्राप्ति[2] से उत्पन्न दुःख को 'मानसिक' कहते हैं। ये सभी दुःख आन्तरिक[3] उपायों से साध्य[4] या निवर्तनीय होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं।

विशेष—(i) वस्तुतः शारीरिक दुःख भी दो प्रकार का होता है—एक नैसर्गिक, जैसे अशनाया (भूख), पिपासा इत्यादि से उत्पन्न, दूसरा त्रिदोष-जन्य, जैसे ज्वर, अतिसार इत्यादि। प्रस्तुत स्थल में प्रथम का व्यक्त रूप से ग्रहण न होने पर भी दूसरे को उसका भी उपलक्षण जाना चाहिए।

(ii) यद्यपि सभी दुःख मन का धर्म होने के कारण मानसिक ही होता है, अतएव आध्यात्मिक (शारीरिक, मानसिक) अधिभौतिक और आधिदैविक रूप से उसका विभाजन सम्भव नहीं है, तथापि यहाँ ऐसा इस दृष्टि से किया गया है कि जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह तो मानसिक और जिसमें

---

१. आत्मनि देहे मनसि वेति आध्यत्मम्। तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शारीरं मानसं च।

२. विषयविशेषादर्शनम् विषयणां विशेषाः शब्दस्पर्शादिश्रेष्ठविषयाः, तेषामदर्शनम् अननुभवः अलाभः इति यावत्।—किरणावली। सारबोधिनीकाराः शिवनारायणशास्त्रिणः बालरामोदासीनाश्च पुनः विषयविशेषादर्शनेतिशब्दस्य न्यायमतेन 'अनवधारणात्मकमनेककोटिकं ज्ञानं संशय' इत्यर्थं कृतवन्तः।

३. आन्तराः अन्तरे शरीराभ्यन्तरे वा अन्तःकरणे वा भवाः सत्तावन्तः अन्नाम्बुभेषजदमदयादानविवेचनादयः साधनविशेषाः, तैः साध्यत्वाद् दुःखम-प्युपचारादन्तरं सदाध्यात्मिकमित्युच्यते—बालरामोदासीनः।

४. वस्तुतस्तु आन्तरोपायसाध्यत्वादित्यत्र अध्यशब्दो जन्यपर्यायः, तथा शरीराभ्यन्तरे मनसि च भवा ये धातुवैषम्यादयः कामादयो वा निमित्तविशेषास्तैः साध्यत्वज्जन्यत्वात् शारीरं मानसं चान्तरमित्युच्यते, शरीरमनोबहिर्भूतसिंह-व्याघ्रवर्षातपादिनिमित्तविशेषजन्यत्वाच्चाधिभौदिकादि बाह्यमित्युच्यते, इत्यत्र बोध्यः इति बालरामोदासीनः। आन्तरः अहङ्कारास्पदनिष्ठो या उपायः काम-क्रोधादिः तेन साध्यत्वात् जन्यत्वादित्यर्थः इति सुषमाकारः। किरणावल्यामपि तत्साध्यत्वात् तज्जन्यत्वात् तन्निष्पाद्यत्वादित्यर्थः कृतः।

उसके अतिरिक्त बाह्य निमित्तों की भी अपेक्षा हो, वह उससे भिन्न अर्थात् शारीरिक, आधिभौतिक या आधिदैविक है। 'तत्त्व-विभाकर' में पं० वंशीधर मिश्र ने भी इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'ननु सर्वस्यापि दुःखस्य मनोधर्मत्वेन मानसत्वात् कथं मानसत्वामानसत्वव्यवहार इति चेत् न; मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वव्यवहारात् ।'

(iii) अन्न से बुभुक्षा, जल से पिपासा, भेषज या औषध से ज्वर, अतिसार आदि रोग, दम या इन्द्रिय-निग्रह से काम, दया से क्रोध, दान से लोभ, विवेचन से मोह, तत्त्वज्ञान से भय, उदारता से ईर्ष्या तथा असंग से विषाद की निवृत्ति होती है। ये सारे साधन शरीर या मन के भीतर प्रयुक्त होने से आध्यात्मिक हुए, अतएव इनके द्वारा साध्य या निवर्तनीय दुःख भी गौणरूप से आध्यात्मिक हुये आध्यात्मिक कहलाते हैं।

उपर्युक्त अर्थ 'साध्य' पद का 'निवर्तनीय' या 'दूर होने योग्य' अर्थ लेकर किया गया है। बालराम ने अपनी टीका 'विद्वत्तोषिणी' में इसकी ओर संकेत किया है। परन्तु आगे उन्होंने 'वस्तुतस्तु आन्तरोपायसाध्यत्वादित्यत्र साध्यशब्दो जन्यपर्यायः' इत्यादि लिखकर इस अर्थ की उपेक्षा की है। सुषमा, किरणावली तत्त्वविभाकर आदि टीकाओं में भी 'साध्य' का 'जन्य' ही अर्थ लिया गया है। सारबोधिनीकार ने तो पहले 'साध्य' का 'निवर्तनीय' अर्थ लेकर 'अन्नमन्तर्गतं सत् बुभुक्षां वारयति, जलमन्तर्गतं सत् पिपासां दूरीकरोति, औषधं चान्तरं सत् ज्वरादिकमपनयति' इत्यादि प्रकार से अपने भाव को स्पष्ट किया है; परन्तु आगे उन्होंने भी 'जन्य' अर्थ लेकर 'उपायैः' का 'धातुवैषम्यादिभिः कामादिभिर्वा निमित्तविशेषैः' अर्थ किया है। परन्तु हमें तो पूर्व अर्थ ही युक्त लगता है क्योंकि कामादि 'उपाय' नहीं हैं, इसी से तो उसका 'निमित्त' अर्थ करना पड़ा। फिर 'उपाय' करने में जो इच्छा की अपेक्षा होती है, उसकी दुःख के साथ संगति नहीं बैठती। दुःख की प्राप्ति के लिए भला कौन उपाय करेगा? 'जन्य' अर्थ लेने पर 'उपाय' शब्द का 'कारण' या 'निमित्त' अर्थ लेना होगा।

बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा—आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविकं तु यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्। तदनेन प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्। तदनेन दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीय-

तयाभिसम्बन्धोऽभिघात इति। एतावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिहासाहेतुरुक्तः।

अर्थ—बाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार का होता है—आधिभौतिक[1] और आधिदैविक[2]। उनमें से मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक; तथा यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख आधिदैविक कहलाता है। तो फिर (बुद्धितत्त्वान्तर्वर्ती) रजोगुण के विशिष्ट परिणाम-भूत एवं प्रत्येक के द्वारा अनुभव किये जाने वाले इस दुःख को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। [इस प्रकार 'जगत् में दुःख है ही नहीं'—इस शंका का निराकरण हो गया। अब 'दुःख होने पर भी स्यात् उसकी निवृत्ति अभीष्ट न हो, इस दूसरी शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं :—] अन्तःकरण में वर्तमान और अनिष्ट-रूप में अनुभूयमान इस त्रिविध दुःख के साथ चेतन पुरुष के असह्य सम्बन्ध को 'अभिघात' कहते हैं। इतने से यह स्पष्ट हो गया कि दुःख का अनिष्ट-रूप में अनुभव ही उसके परिहार की इच्छा का कारण है।

विशेष—यद्यपि दुःख वस्तुतः बुद्धि का ही धर्म है, पुरुष का नहीं, जैसा कि 'अन्तःकरणवर्तिना'—इस पद से कौमुदीकार ने स्पष्ट कर दिया है और इस प्रकार जिहासा का प्रश्न उठाना असम्भव है क्योंकि जिस अन्तःकरण का वह धर्म है, वह जड़ है और जिस पुरुष—चेतन—को जिहासा हो सकती है उसका तो वह धर्म है ही नहीं, तथापि बुद्धि-वृत्ति में प्रतिबिम्बत चेतन पुरुष, जिसे व्यवहार में जीव कहते हैं, बुद्धि-गत धर्मों का अपने में आरोप करके (मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ—इत्यादि रूप में) उसका अभिमान करता है।

['जिहासा होने पर भी नित्य होने कारण दुःख का परिहार ही शायद सम्भव न हो'—अब इस तृतीय शंका का निराकरण करते हैं :—]

---

१. भूतानि जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपाणि चराचरजातीयानि अधिकृत्य निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिभौतिकम्।

२. (i) आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाशन्यवश्यायावेशनिमित्तम्—युक्तिदीपिका। (ii) देवान् यक्षादीन् दिवःप्रभवान् वातवर्षातपशीतोष्णादीन् वा निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिदैविकम्—ज्ञानरामः। (iii) केचित्तु देवपदेन दिवःप्रभवाणां वातवर्षादीनामपि ग्रहणं वदन्ति; भूतपदेनैव तेषां लाभसम्भवात् देवपदेन ग्रहणं व्यर्थमेवेति प्रतिभाति—सुषमा।

यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखम् तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुमित्युपरिष्टादुपपादयिष्यते ।[1] तस्मादुपपन्नं 'तदपघातके हेतौ' इति । तस्य दुःखत्रयस्य अपघातकः तदपघातकः । उपसर्जनस्यापि बुद्धया सन्निकृष्टस्य 'तदा' परामर्शः ।

अर्थ—यद्यपि सत् होने के कारण दुःख का पूर्ण निरोध या विनाश सम्भव नहीं है, तथापि उसका अभिभव या उसकी शान्ति की जा सकती है—इसे आगे (६५वीं कारिका—तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥—में) स्पष्ट करेंगे। इस प्रकार 'तदपघातके हेतौ', यह कथन युक्त है ।\ 'तदपघातक' समास में 'तद्' का अर्थ है—'दुःखत्रय'। यद्यपि 'दुःखत्रय' पद 'दुःखत्रयाभिघातात्'—इस समास का गौण अंग है [अतः 'तद्' के द्वारा दुःखत्रय' का नहीं अपितु 'अभिघात' का ही परामर्श (अध्याहार) होना चाहिये], तथापि बुद्धि में उपस्थित या आरूढ़ होने के कारण 'तद्' के द्वारा (समास के द्वितीय और मुख्य अंग 'अभिघात' की अपेक्षा) 'दुःखत्रय' का ही परामर्श या आध्याहार हुआ है।

विशेष—आरम्भवादी नैयायिक उत्पत्ति के पूर्व कार्य-वस्तु का कारण-वस्तु में अभाव मानते हैं। वे कारण में अविद्यमान वस्तु की ही उत्पत्ति मानते हैं। इसी प्रकार उनके मत में उत्पन्न कार्य का नाशक सामग्री द्वारा होने वाला विनाश भी आत्यन्तिक होता है, कार्य कारण के रूप में नहीं परिणत होता है। परन्तु इसके विपरीत सांख्य-योग मतों को मानने वाले सत्कार्यवादी हैं। वे कारण-वस्तु में पूर्व से ही सूक्ष्म-रूप से विद्यमान कार्य-वस्तु की उत्पत्ति बताते हैं। उनके अनुसार असत् वस्तु की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार कार्य या उत्पन्न वस्तु के फिर कारण-रूप में परिणत हो जाने को ही वे उसका विनाश मानते हैं, उसका आत्यन्तिक प्रध्वंस वे नहीं मानते। इसके अनुसार दुःख, जो प्रकृति के रजस् गुण का ही परिणाम-विशेष है, का भी पूर्णतः विनाश नहीं हो सकता। इसीलिए सांख्य और योग मत वाले दुःख की अतीतावस्था या शान्तावस्था को उसका विनाश मानते हैं और यह अतीतावस्था

---

१. (i) अभिभवः विनाशसामग्रीसम्पादनकृतः अनिरोधः शान्तावस्थापादनेन तदनाविर्भावः ।
—सारबोधिनी

(ii) अभिभवः शान्तावस्थापादनेन स्थूलस्वरूपप्राप्तिप्रयोग्यताविरहरूपोऽनाविर्भावः ।
—बालरामः